

जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त
(Ethical Doctrines in Jainism)
(खण्ड-2)

लेखक व संपादक
डॉ. कमलचन्द सोगाणी

अनुवादक
श्रीमती शकुन्तला जैन



जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी
राजस्थान

जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त (खण्ड-2)

Hindi Translation of the English book
'Ethical Doctrines in Jainism'

by

Dr. Kamal Chand Sogani

(General Editors: Dr. A. N. Upadhye and Dr. H. L. Jain)

लेखक व संपादक

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

पूर्व प्रोफेसर दर्शन शास्त्र,

एम. एल. सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

निदेशक

जैनविद्या संस्थान-अपभ्रंश साहित्य अकादमी

अनुवादक

श्रीमती शकुन्तला जैन

सहायक निदेशक

जैनविद्या संस्थान



प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

राजस्थान

- ◆ प्रकाशक
जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी
श्री महावीरजी - 322 220 (राजस्थान)
दूरभाष - 7469-224323
- ◆ प्राप्ति-स्थान
1. जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी
2. साहित्य विक्रय केन्द्र
दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी
सवाई रामसिंह रोड, जयपुर - 302 004
दूरभाष - 0141-2385247
- ◆ प्रथम संस्करण 2011
- ◆ सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन
- ◆ मूल्य 350/-
- ◆ ISBN No. 81-88677-07-8 (खण्ड-2)
- ◆ पृष्ठ संयोजन
श्री श्याम अग्रवाल
ए-336, मालवीय नगर, जयपुर - 302017
दूरभाष - 0141-2524138, मो. 9887223674
- ◆ मुद्रक
जयपुर प्रिण्टर्स प्रा. लि.
एम.आई. रोड, जयपुर - 302 001

समर्पण

स्व. मास्टर मोतीलाल संघी

(संस्थापक श्री सन्मति पुस्तकालय, जयपुर 1920)

स्व. पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ

(प्राचार्य, दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर)

स्व. डॉ. ए. एन. उपाध्ये

स्व. डॉ. हीरालाल जैन

स्व. श्रीमती कमला देवी ठोलिया/सोगाणी

(धर्मपत्नी-डॉ. कमलचन्द सोगाणी)

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या	
	समर्पण		
	प्रकाशकीय	XI	
	प्राक्कथन	प्रो. (डॉ.) वीरसागर जैन अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली	XIV
	सम्पादकीय	डॉ. कमलचन्द सोगाणी	XVII
	सामान्य सम्पादकीय	डॉ. ए. एन. उपाध्ये डॉ. हीरालाल जैन	XXIII
	प्रस्तावना	डॉ. कमलचन्द सोगाणी	XXIX

खण्ड-2

5. मुनि का आचार 1-59

पूर्व अध्याय (प्रथम खण्ड का चतुर्थ अध्याय) का संक्षिप्त विवरण (1), मुनिधर्म क्रियाओं से नहीं बल्कि हिंसा से पीछे हटना है (1-3), आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रेरक

(V)

के रूप में अनुप्रेक्षाएँ और उनका महत्त्व (3-5), प्रत्येक प्रेरक (अनुप्रेक्षा) का विवरण (5), (i) सतत परिवर्तनशीलता या वस्तुओं की क्षणभंगुरता (अनित्य- अनुप्रेक्षा) (5-6), (ii) मरण की अनिवार्यता का प्रेरक (अशरण- अनुप्रेक्षा) (6-7), (iii) पुनर्जन्म का प्रेरक (संसार-अनुप्रेक्षा) (7-8), (iv) एकाकीपन का प्रेरक (एकत्व-अनुप्रेक्षा) (8), (v) आत्मा और अनात्मा के बीच तात्त्विक भेद का प्रेरक (अन्यत्व-अनुप्रेक्षा) (8-9), (vi) शरीर की अशुचिता का प्रेरक (अशुचि-अनुप्रेक्षा) (vii) (9), विश्व की व्यवस्था का प्रेरक (लोक-अनुप्रेक्षा) (9-10), (viii) सम्यक्मार्ग को कठिनता से प्राप्त करने का प्रेरक (बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा)(10-11), (ix) कर्मों के इहलोक और परलोक के दुःखों का प्रेरक (आस्रव-अनुप्रेक्षा) (11), (x-xii) कर्मों को रोकने की विधि का प्रेरक (संवर-अनुप्रेक्षा)- कर्मों को हटाने की विधि का प्रेरक (निर्जरा-अनुप्रेक्षा)- जिनदेव द्वारा धर्म का उपदेश देने का प्रेरक (धर्म-अनुप्रेक्षा)(11-12), मुनि-जीवन का औपचारिक ग्रहण (12-13), अंतरंग और बाह्य साथ-साथ रहते हैं (13-14), अंतरंग और बाह्य स्वरूप का अंगीकार (15), गृहस्थ की अपेक्षा मुनि जीवन की श्रेष्ठता (15-16), पाँच महाव्रत (16), (i) अहिंसा महाव्रत (16), (ii) सत्य महाव्रत (16-17), (iii) अस्तेय महाव्रत (17-18), (iv) ब्रह्मचर्य महाव्रत (18), (v) अपरिग्रह महाव्रत (18-20), तीन गुप्ति और पाँच समिति (21-23), (i) ईयासमिति (23-25), (ii) भाषासमिति (25), (iii) एषणासमिति (25-27), (iv) आदाननिक्षेपणसमिति (27), (v) प्रतिष्ठापनसमिति (27), पाँच इन्द्रियों का नियंत्रण (27-28), केशलौच (28-29), षट् आवश्यक (29-31), (i) सामायिक (31), (ii) स्तुति (31-32), (iii) वंदना (32-

33), (iv) प्रतिक्रमण (33-34), (v) प्रत्याख्यान (34), (vi) कायोत्सर्ग (34-35), नम्रता (35), अन्य मूलगुण (35-36), परीषह-उनकी गणना और व्याख्या (36-39), परीषह और तप में भेद (39-40), तप का स्वरूप और प्रकार (40-41), बाह्य तप (41-45), अंतरंग तप (45-46), ध्यान का सामान्य स्वरूप और उसके प्रकार (46-48), आर्त-ध्यान (48-50), रौद्र-ध्यान (50-51), प्रशस्त ध्यान की पूर्व आवश्यकताएँ (51-52), धर्म-ध्यान (52-54), शुक्ल-ध्यान (54-56), मुनि के आध्यात्मिक मरण के प्रकार (56-57), (i) भक्तप्रतिज्ञा-मरण (57-58), (ii) इंगिनी-मरण (58-59), (iii) प्रायोपगमन-मरण (59)।

6. जैन आचार का रहस्यात्मक महत्त्व 60-112

पूर्व अध्याय का संक्षिप्त विवरण (60), तत्त्वमीमांसा, आचार और रहस्यवाद (60-61), रहस्यवाद का स्वरूप (61-64), तीन प्रकार की आत्मा का निरूपण (क) बहिरात्मा (64), (ख) अन्तरात्मा (65), तीन प्रकार की अन्तरात्मा (65-66), (ग) परमात्मा (66), रहस्यवादी मार्ग (67), रहस्यवादी और तत्त्वमीमांसक (67-70), (1) जाग्रति से पूर्व आत्मा का अंधकारकाल या मिथ्यात्व गुणस्थान (70-72), मिथ्यात्व के प्रकार (72-73), नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक रूपान्तरण (74-76), (2) सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति या आत्मजाग्रति या अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान (76-77), सर्वोच्च गुरु के रूप में अरिहंत (77-78), अरिहंत की दोहरी भूमिका

(78-79), गुरु के रूप में आचार्य (79-80), उपाध्याय और साधु की विशेषताएँ (80), आध्यात्मिक रूपान्तरण या आत्मजाग्रति (सम्यग्दर्शन) (80-81), सम्यक्त्व (आध्यात्मिक रूपान्तरण) के प्रकार और निम्न गुणस्थानों में गिरने की संभावना उदाहरणार्थ - (क) सासादन गुणस्थान और (ख) मिश्र गुणस्थान (81-83), आध्यात्मिक रूपान्तरण या आत्मजाग्रति (सम्यग्दर्शन) के पश्चात् रहस्यवादी यात्रा के लिए आवश्यकताएँ (83-85), (3) शुद्धीकरण या (क) विरताविरत गुणस्थान (ख) प्रमत्तविरत गुणस्थान (85-86), मुनि की विशेषताएँ (87-88), स्वाध्याय के प्रकार (88), आगम चार अनुयोगों के रूप में (88-89), स्वाध्याय का महत्त्व (89-91), भक्ति का स्वरूप (92-94), भक्ति के प्रकार (94-96), भक्ति का महत्त्व (96), ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के रूप में सोलह प्रकार की भावनाएँ (97-99), उच्चारोहण से पूर्व की प्रक्रिया (99), (4) ज्योतिपूर्ण अवस्था या (क) सातिशय अप्रमत्त (ख) अपूर्वकरण (ग) अनिवृत्तिकरण (घ) सूक्ष्मसाम्पराय (ङ) उपशान्तकषाय और (च) क्षीणकषाय गुणस्थान (100-101), (5) ज्योतिपूर्ण अवस्था के पश्चात् अंधकार काल (101-103), (6) लोकातीत जीवन या (क) सयोगकेवली गुणस्थान और (ख) अयोगकेवली गुणस्थान (103-105), परमात्मा की धारणा (105-106), अरिहंत की विशेषताएँ (106-109), 'पावन' श्रेणी के रूप में अरिहंत (109-110),

(VIII)

सिद्धावस्था या उत्कृष्ट लोकातीत जीवन (110-111),
सिद्ध की विशेषताएँ (111-112)।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

113-115

खण्ड-3

7. जैन और जैनेतर भारतीय आचारशास्त्रीय सिद्धान्त
8. जैन और पाश्चात्य आचारशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकार
9. जैन आचार और वर्तमान समस्याएँ
10. सारांश

खण्ड-1 (प्रकाशित)

1. जैन आचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
2. जैन आचार का तात्त्विक आधार
3. सम्यग्दर्शन और सात तत्त्व
4. गृहस्थ का आचार



प्रकाशकीय

जैनधर्म एवं दर्शन के अध्येताओं के लिए डॉ. कमलचन्द सोगाणी द्वारा लिखित पुस्तक 'Ethical Doctrines in Jainism' के हिन्दी-अनुवाद 'जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त' का प्रकाशन करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी द्वारा सन् 1982 में 'जैनविद्या संस्थान' की स्थापना की गयी। यह संस्थान सन् 1947 में स्थापित 'साहित्य शोध संस्थान' का विकसित रूप है। उस समय इसकी स्थापना में स्व. पण्डित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर की प्रेरणा व तत्कालीन मंत्री श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका का प्रयास रहा है।

जैनविद्या संस्थान जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति की बहुआयामी दृष्टि को सामान्यजन एवं विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए सतत प्रयत्नशील है। इस उद्देश्य की पूर्ति के उपक्रम में संस्थान द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन किया गया। उदाहरणार्थ- 'जैन पुराण-कोश', 'आदिपुराण' (सचित्र), 'भक्तामर' (सचित्र), 'परम पुरुषार्थ अहिंसा', 'प्रवचन प्रकाश', 'सोलहकारण भावना-विवेक', 'अर्हत प्रवचन', 'जैन भजन सौरभ', 'द्यानत भजन सौरभ', 'दौलत भजन

सौरभ', 'बुधजन भजन सौरभ', 'भूधर भजन सौरभ', 'भागचन्द भजन सौरभ', 'जैन न्याय की भूमिका', 'न्याय दीपिका', 'न्याय-मन्दिर', 'द्रव्यसंग्रह', 'आचार्य कुन्दकुन्द : द्रव्यविचार', 'समयसार', 'स्याद्वाद : एक अनुशीलन' आदि का प्रकाशन किया जा चुका है जिनमें जैनधर्म-दर्शन के सिद्धान्तों, उसके सांस्कृतिक मूल्यों को सरल सहज रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसी क्रम में 'जैनविद्या संस्थान' द्वारा 'जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त' का प्रकाशन किया जा रहा है।

संस्थान से शोध-पत्रिका के रूप में 'जैनविद्या' का प्रकाशन किया जाता है। वर्तमान में संस्थान के माध्यम से जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति का अध्यापन पत्राचार के माध्यम से किया जा रहा है जिसका लाभ देश के विभिन्न भागों में रहनेवाले लोग उठा रहे हैं।

'जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त' में दस अध्याय हैं जिनमें जैन आचार के विभिन्न आयामों को चित्रित किया गया है। हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक सामान्यजन एवं विद्वानों के लिए आधारभूत पुस्तक के रूप में उपयोगी होगी और जैनधर्म-दर्शन के अध्ययनार्थियों के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम के रूप में चलायी जा सकेगी।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी जो देश-विदेश के ख्यातिलब्ध विद्वान हैं और दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी के सदस्य हैं, उन्होंने अपने द्वारा लिखित अंग्रेजी पुस्तक के हिन्दी अनुवाद का स्वयं ही सम्पादन करके अनुवाद को प्रामाणिक बना दिया है। इसके लिए हम अपनी गौरवपूर्ण प्रसन्नता व्यक्त करते हैं।

डॉ. वीरसागर जैन, अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली ने जैनधर्म-दर्शन के

विभिन्न आयामों को उजागर करने वाली इस चिरप्रतीक्षित पुस्तक का प्राक्कथन लिखकर जो गरिमा प्रदान की है उसके लिए हम उनके आभारी हैं। जैनविद्या संस्थान-अपभ्रंश साहित्य अकादमी में कार्यरत श्रीमती शकुन्तला जैन ने हिन्दी-अनुवाद करके हिन्दी-जगत के स्वाध्यायियों और जैन आचार के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक उपलब्ध करवायी, इसके लिए वे धन्यवाद की पात्र हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के दस अध्यायों में से चार अध्याय खण्ड-1 के रूप में प्रकाशित किए जा चुके हैं। अब पाँचवाँ और छठा अध्याय खण्ड-2 के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। पुस्तक प्रकाशन में संस्थान के सहयोगी कार्यकर्ता एवं मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर धन्यवादार्ह हैं।

प्रकाशचन्द्र जैन
मंत्री

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

14.01.2011

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी



प्राक्कथन

एक ही आचार को जैनाचार्यों ने दो भागों में विभाजित करके समझाया है- गृहस्थाचार और मुनि-आचार। डॉ. कमलचन्द सोगाणी की प्रस्तुत कृति- 'जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त' के प्रथम खण्ड में हमने गृहस्थाचार के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की। अब द्वितीय खण्ड में मुनि-आचार का विवेचन किया जा रहा है। लेखक का प्रस्तुतीकरण यहाँ भी वैसा ही अत्यन्त व्यापक एवं निष्पक्ष होने से हृदयग्राह्य बना हुआ है।

मुनि-आचार का विवेचन करते हुए लेखक ने उसकी प्रेरक द्वादशानुप्रेक्षाओं से प्रारंभ करके अट्ठईस मूलगुणों और चौदह गुणस्थानों तक का विस्तृत स्वरूप प्रस्तुत किया है, किन्तु सर्वाधिक बल जिस बात पर दिया है वह है- रहस्यवाद। तथा मैं समझता हूँ कि यही एक इस कृति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

बहुत से लोग (कुछ विद्वान तक भी) रहस्यवाद को समझ नहीं पाते, खास तौर से जैन-आचार के साथ तो बिल्कुल ही नहीं समझ पाते, अपितु विरोध-सा व्यक्त करने लगते हैं; जबकि यह जैन-आचारशास्त्र का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पक्ष/विषय है, जिसे समझना अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इसे समझे बिना जैन-आचारशास्त्र को पूर्णतः/समीचीनतः नहीं समझा जा सकता।

प्रश्न है कि रहस्यवाद कहते किसे हैं? तो इस सम्बन्ध में लेखक का स्पष्ट कहना है कि- “जैनधर्म में रहस्यवाद का समानार्थक शब्द ‘शुद्धोपयोग’ है। कुन्दकुन्द के अनुसार बहिरात्मा को छोड़ने के पश्चात् अन्तरात्मा के द्वारा लोकातीत आत्मा की अनुभूति रहस्यवाद है।”¹

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यवाद आत्मानुभूति, आत्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार या आत्मलीनता की वचन-अगोचर स्थिति का ही अपर नाम है जिसे आचार्यों ने समाधि, योग, तत्त्वोपलब्धि, वीतरागस्वसंवेदन, ध्यान, निर्विकल्प आत्मध्यान, शुद्धोपयोग आदि अनेक अन्य शब्दों से भी कहा है।² डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने ‘परमात्मप्रकाश’की प्रस्तावना में इसे ही ‘गूढ़वाद’ शब्द से भी सूचित किया है।³

जैनदर्शन में सर्वत्र ही इस स्थिति का बड़ा महत्त्व माना गया है। निश्चयधर्म का प्रारम्भ वस्तुतः इसी दशा से माना गया है। प्रारम्भ ही नहीं, विकास एवं पूर्णता भी परमार्थतः इसी अवस्था से मानी गयी है। आचार्यों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है-‘धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्’। अर्थात् धर्म तो वस्तुतः शुद्धोपयोग है, शेष उसकी पूरक समस्त क्रियाओं को कारण में कार्य का उपचार करके ‘धर्म’ कहा जाता है।

1. जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त, खण्ड-2, पृष्ठ 62

2. “साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः॥”

-षडनन्दिपञ्चविंशतिका, एकत्वसप्तति अधिकार, 64

3. “यह निश्चित है कि जैन गूढ़वाद सभी को विशेष रोचक मालूम होगा।”

-परमात्मप्रकाश, अंग्रेजी प्रस्तावना का हिन्दी सार, पृष्ठ 106

(The Jain mysticism is sure to be all the more interesting.

-Page 2)

इस प्रकार शुद्धोपयोग अर्थात् रहस्यवाद का जैनाचार के साथ बड़ा ही गहरा सम्बन्ध सिद्ध होता है, क्योंकि समस्त जैनाचार की अन्तिम परिणति अनिवार्य रूप से रहस्यवाद/शुद्धोपयोग में होना आवश्यक है। उसके बिना वह अपूर्ण ही रहा माना जाएगा।

इसे हम इसप्रकार भी कह सकते हैं कि सम्पूर्ण आचार का पालन वस्तुतः रहस्यात्मक जीवन (शुद्धोपयोग) की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है, उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं होता। आचार साधन है और रहस्यवाद साध्य। साधन तभी साधन है जब वह साध्य की प्राप्ति कराए और साध्य भी इसीलिए साध्य है क्योंकि वह साधनों द्वारा प्राप्त किया जाता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि जैनाचार और रहस्यवाद का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, इनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता— न तो समझने के स्तर पर ही और न पालने के स्तर पर ही।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी की प्रस्तुत कृति इसीलिए स्तुत्य है क्योंकि इसमें जैनाचार के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष को पद-पद पर बड़ी ही सावधानी के साथ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। जैनाचारशास्त्र के अध्येताओं से यह पक्ष प्रायः छूट जाता है। डॉ. सोगाणी जी की इस कृति से हम सभी को आचारशास्त्र एवं रहस्यवाद के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने की प्रेरणा लेनी चाहिए।

- वीरसागर जैन



सम्पादकीय

राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा सन् 1961 में पीएच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध 'Ethical Doctrines in Jainism' पुस्तक रूप में सन् 1967 में डॉ. ए. एन. उपाध्ये और डॉ. हीरालाल जैन की देख-रेख में जीवराज जैन ग्रंथमाला, सोलापुर से प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा संस्करण सन् 2001 में प्रकाशित है।

यह पुस्तक विदेशों में, पूर्वी व दक्षिणी भारत में अध्ययनार्थ अत्यधिक रूप से प्रयोग में आई। लगभग 43 वर्ष तक अंग्रेजी जगत के अध्ययनार्थियों ने इसका भरपूर उपयोग किया।

डॉ. ए. एन. उपाध्ये लिखते हैं- "The Dharmāmṛta of Asādharma (1240A.D.) is perhaps a fine attempt to propound the twofold discipline in one unit. The Jaina literature abounds in treatises dealing with the life of a monk, and for a handy survey of which one can consult the History of Jaina Monachism by S. B. Deo (Deccan College, Poona 1956). A Critical and historical study of the discipline prescribed for a householder is found in that excellent monograph, the Jaina Yoga by R. Williams (Oxford University Press, Oxford 1963). In the present volume (1967) Dr. K. C. Sogani has attempted an admirable survey of the entire range of the ethical doctrines in Jainism. He has given us an exhaustive

study of the ethical doctrines in jainism, presenting his details in an authentic manner.” अर्थात् “आशाधर का धर्माभूत (1240 ईस्वी) दो प्रकार के आचार-धर्म को एक इकाई में प्रस्तुत करने का संभवतः सुन्दर प्रयास है। जैन साहित्य में साधु के जीवन से संबंधित शोध-प्रबन्ध प्रचुर मात्रा में हैं। संक्षिप्त सर्वेक्षण के लिए कोई भी व्यक्ति S. B. Deo द्वारा लिखित ‘History of Jaina Monachism’ (Deccan College, Poona 1956) का उपयोग कर सकता है। गृहस्थों के लिए प्रतिपादित आचार-धर्म का आलोचनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन आर. विलियम्स द्वारा लिखित जैन योग (Oxford University Press, Oxford 1963) नामक उत्तम निबन्ध में प्राप्त होता है। प्रस्तुत कृति (1967) में डॉ. के. सी. सोगाणी ने जैनधर्म के आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों के सम्पूर्ण आयामों का उत्कृष्ट सर्वेक्षण करने का प्रयास किया है। उन्होंने जैनधर्म के आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रामाणिक रीति से प्रदर्शित करते हुए उनका सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन हमें प्रदान किया।”

12 अप्रैल सन् 1971 को प्रो. दलसुख मालवणिया ने लिखा- आपके द्वारा भेजी गयी “Ethical Doctrines in Jainism” मिली। खेद है इतनी अच्छी पुस्तक मैं अब तक नहीं देख सका। आपकी यह पुस्तक जैन आचार विषय को लेकर अन्तर और बाह्य सभी पहलुओं की चर्चा से संपन्न है। आपने मुनि और गृहस्थ के आचारों का निरूपण तो किया ही है, किन्तु जैन तत्त्वज्ञान के साथ उसका क्या संबंध है- उसका भी सुन्दर विवेचन किया है। इतना ही नहीं किन्तु भूमिका रूप में वैदिक परम्परा के आचार के प्रकाश में जैन आचार को देखने का जो प्रयत्न है, वह आपकी पैनी दृष्टि का परिचायक है। साथ ही मिस्ट्रीसिद्धम और भक्तिवाद का जैन आचार के साथ किस प्रकार मेल है तथा

(XVIII)

पाश्चात्य देशों में जो आचार-संबंधी विचारणा हुई है उसके सन्दर्भ में भी आपने जैन आचार को देखा है वह आपकी अपनी सूझ है और वह आप तत्त्वज्ञान के विद्यार्थी होने से अच्छी तरह कर सके हैं- इसमें सन्देह नहीं है।

इस पुस्तक के हिन्दी-अनुवाद की चर्चा काफी समय से चल रही थी। जैनविद्या संस्थान-अपभ्रंश साहित्य अकादमी की कार्यकर्ता श्रीमती शकुन्तला जैन ने इसके हिन्दी-अनुवाद करने की इच्छा प्रकट की। पिछले 19 वर्षों से वे संस्थान-अकादमी में कार्यरत हैं। प्राकृत और अपभ्रंश की उनकी योग्यता सराहनीय है। उनकी उत्कट इच्छा को देखकर मैंने उनको इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद करने की अनुमति प्रदान कर दी और उसका सम्पादन करना मैंने स्वीकार किया।

हमारे साग्रह निवेदन पर प्रो. (डॉ.) वीरसागर जैन, अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली ने इसके प्राक्कथन लिखने की स्वीकृति प्रदान करने की कृपा की। इसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

इस पुस्तक को तीन खण्डों में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। प्रथम चार अध्याय (1) जैन आचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (2) जैन आचार का तात्त्विक आधार (3) सम्यग्दर्शन और सात तत्त्व (4) गृहस्थ का आचार - ये एक खण्ड में रखे गये हैं। अन्य दो अध्याय (5) मुनि का आचार (6) जैन आचार का रहस्यात्मक महत्त्व - ये द्वितीय खण्ड में रखे गये हैं। (7) जैन और जैनेतर भारतीय आचारशास्त्रीय सिद्धान्त (8) जैन और पाश्चात्य आचारशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकार (9) जैन आचार और वर्तमान समस्याएँ (10) सारांश - ये तृतीय खण्ड में रखे गये हैं।

प्रथम खण्ड की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं-

प्रथम, जैनधर्म अपने उद्गम के लिए ऋषभदेव का ऋणी है जो चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम हैं। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में ऐसे व्यक्ति थे जो प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा करते थे। निःसन्देह जैनधर्म महावीर या पार्श्वनाथ के पहले भी प्रचलित था। जैन आचार अपने उद्भव में मागधीय है।

द्वितीय, सम्पूर्ण जैन आचार व्यवहार में अहिंसा की ओर उन्मुख है। गृहस्थ के आचार का वर्णन करने के लिए व्यापक पद्धति है- गृहस्थाचार को पक्ष, चर्या और साधन में विभाजित करना। सल्लेखना की प्रक्रिया का आत्मघात से भेद किया जाना चाहिए। सल्लेखना उस समय ग्रहण की जाती है जब कि शरीर व्यक्ति की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असफल हो जाता है और जब मृत्यु का आगमन निर्विवाद रूप से निश्चित हो जाता है, किन्तु आत्मघात भावात्मक अशान्ति के कारण जीवन में किसी भी समय किया जा सकता है।

तृतीय, जैन तत्त्वमीमांसा जैन आचारशास्त्रीय सिद्धान्त के प्रतिपादन का आधार है। जैन दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत तात्त्विक दृष्टि अनेकान्तवाद या अनिरपेक्षवाद के नाम से जानी जाती है। जैनदर्शन की दृढ़ धारणा है कि दर्शन में निरपेक्षवाद नैतिक चिन्तन का विनाशक है, क्योंकि निरपेक्षवाद सदैव चिन्तन की प्रागनुभविक प्रवृत्ति पर आधारित होता है जो अनुभव से बहुत दूर है। अहिंसा की धारणा जो जैन आचार के क्षेत्र से संबंधित है, पदार्थों के तात्त्विक स्वभाव का तार्किक परिणाम है।

चतुर्थ, जैनधर्म केवल आचार और तत्त्वमीमांसा ही नहीं है बल्कि अध्यात्मवाद भी है। यह इस बात से स्पष्ट है कि जैन आचार्यों द्वारा निरन्तर सम्यग्दर्शन (आध्यात्मिक जाग्रति) की वास्तविक उपलब्धि पर जोर दिया गया है। सम्यग्दर्शन की पृष्ठभूमि के बिना सम्पूर्ण जैन आचार चाहे गृहस्थ का हो या मुनि का, पूर्णतया निर्जीव है।

द्वितीय खण्ड की महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं—

मुनिधर्म क्रिया जगत से नहीं बल्कि हिंसा जगत से पीछे हटना है। वास्तव में क्रिया त्यागी नहीं जाती है लेकिन क्रिया का लोकातीत स्वरूप सांसारिक स्वरूप का स्थान ले लेता है। मुनिधर्म का आचरण जो सम्यग्दर्शन सहित शुभ भावों से सम्बन्धित होता है मन्द कषाय के रूप में आध्यात्मिक बाधाओं की उपस्थिति के कारण अहिंसा की पूर्ण अनुभूति को रोक देता है। निःसन्देह मुनि जीवन इस अनुभूति के लिए पूर्ण भूमिका प्रदान करता है लेकिन इसका सम्पूर्ण अनुभव केवल रहस्यात्मक अनुभूति की परिपूर्णता में ही संभव होता है।

जैनधर्म में 'रहस्यवाद' का समानार्थक शब्द 'शुद्धोपयोग' है। कुन्दकुन्द के अनुसार बहिरात्मा को छोड़ने के पश्चात् अन्तरात्मा के द्वारा लोकातीत आत्मा की अनुभूति रहस्यवाद है अर्थात् बहिरात्मा को छोड़ने के पश्चात् अन्तरात्मा के द्वारा परमात्मा की परा-नैतिक अवस्था को प्राप्त करना रहस्यवाद है। यदि रहस्यवादी की पद्धति अनुभव और अन्तर्ज्ञान है तो तत्त्वमीमांसक की पद्धति केवल विचारणा है। रहस्यवादी मार्ग को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है, उदाहरणार्थ—

(1) जाग्रति से पूर्व आत्मा का अंधकारकाल (2) आत्मजाग्रति और उससे पतन (3) शुद्धीकरण (4) ज्योतिपूर्ण अवस्था (5) ज्योति के पश्चात् अंधकार काल और (6) लोकातीत जीवन।

मुझे लिखते हुए हर्ष है कि डॉ. वीरसागर जैन के प्रेरणाप्रद प्रोत्साहन व मार्गदर्शन ने तथा श्रीमती शकुन्तला जैन की कार्यनिष्ठा ने मेरे सम्पादन-कार्य को सुगम बना दिया, फलस्वरूप इसका खण्ड-1 एवं खण्ड-2 प्रकाशन के लिए तैयार हो सका; अतः मैं इनका अत्यन्त आभारी हूँ। मैं विशेषतया डॉ. वीरसागर जैन के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को आद्योपान्त अक्षरशः पढ़ा, बहुमूल्य सुझाव दिए और इसका प्राक्कथन लिखने की स्वीकृति प्रदान कर अनुगृहीत किया।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

निदेशक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी



सामान्य सम्पादकीय

आचार जैनधर्म का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसके दो प्रयोजन हैं- प्रथम, यह आध्यात्मिक शुद्धि उत्पन्न करता है और द्वितीय, यह व्यक्ति को योग्य सामाजिक प्राणी बनाता है; जिससे वह उत्तरदायित्वपूर्ण एवं सद्व्यवहारवाला पड़ौसी बन सके।

(1) पहला प्रयोजन कर्म के जैन सिद्धान्त से उत्पन्न होता है; जो स्वचालितरूप से क्रियाशील नियम है; जिससे कर्म-विधान के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को उसके स्वयं के विचारों, शब्दों और क्रियाओं का शुभ या अशुभ फल अवश्य मिलता है। कर्म के इस नियम में ईश्वरीय हस्तक्षेप को कोई स्थान नहीं है, यहाँ ईश्वर को सृष्टि का कर्ता स्वीकार नहीं किया गया है। वह न तो सांसारिक प्राणियों को प्रसाद प्रदान कर सकता है और न ही दण्ड दे सकता है। निःसन्देह यह एक साहसिक दृष्टिकोण है जो जैनधर्म में बुनियादी तौर पर प्रतिपादित किया गया है जिसके कारण व्यक्ति निश्चय ही अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होता है। कर्म एक सूक्ष्म 'पुद्गल' या 'ऊर्जा' का एक प्रकार माना गया है जो विचारों, शब्दों और क्रियाओं के फलस्वरूप आत्मा को प्रभावित करता है। वास्तव में प्रत्येक आत्मा अनादिकाल से कर्मों के प्रभाव में है। प्रत्येक व्यक्ति अतीत के कर्मों के फलों का अनुभव करता है और नये कर्म बाँधता है। इस तरह से क्रिया और उसके फल का चक्र चलता रहता है। केवल अनुशासनात्मक जीवन जीने से व्यक्ति कर्मों से छुटकारा पा सकता है। इस तरह से जब आत्मा पूर्णतया कर्मों से मुक्त हो जाता है तो यही आध्यात्मिक मुक्ति कही जाती है।

(2) दूसरा प्रयोजन सभी प्राणियों के प्रति समानता का दृष्टिकोण विकसित करने के लिए प्रेरित करता है और यह एक व्यक्ति और उसकी संपत्ति के प्रति भी पवित्र दृष्टिकोण उत्पन्न करता है।

यह आचार जैनधर्म में श्रेणीबद्ध रूप से वर्णित है। यह व्यक्ति के लिए प्रस्तावित करता है कि वह आचार का निष्कपट रूप से पालन करे।

इस आचार का आधार अहिंसा का सिद्धान्त है। यह व्यक्ति के स्वाभाविक अधिकार की स्वीकृति है, जिसको यह कहकर सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति जीना चाहता है, कोई भी मरना नहीं चाहता। इसलिए दूसरे प्राणियों को नष्ट करने या नुकसान पहुँचाने का किसी को भी अधिकार नहीं है; उस रूप में विचार करने पर अहिंसा सुसंस्कृत और विवेकपूर्ण जीवन का मूलभूत नियम है और इस तरह यह जैनधर्म के समस्त नैतिक शिक्षण का आधार बन जाता है। “न किसी को मारना और न ही किसी को नुकसान पहुँचाना ऐसे आदेश का निर्धारण मानव के आध्यात्मिक इतिहास में महान घटना है।” यह बात ‘अलबर्ट स्वाइटजर’ के द्वारा (Indian Thoughts and its Development London 1951, pp. 82-3) उचितरूप से कही गयी है। “जहाँ तक हमको ज्ञात है यह बात स्पष्ट रूप से प्रथम बार जैनधर्म में अभिव्यक्त की गयी है।”

जैन नीतिशास्त्री पूर्णरूप से इस बात से परिचित हैं कि ईमानदार और सुदृढ़ अहिंसावादी व्यक्ति को व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वे समझ चुके हैं कि जैनधर्म ने सचेतन प्राणियों को जैविक विज्ञान के अनुरूप श्रेणीबद्ध रूप से व्यवस्थित किया है। इसका उद्देश्य व्यक्ति को किसी भी उच्चश्रेणीवाले जीव को मारने और नुकसान पहुँचाने से परहेज करने के योग्य बनाना है और

अंतिम रूप से यह बताना है कि व्यक्ति निम्न श्रेणीवाले जीव को भी नुकसान पहुँचाने से परहेज करे।

यह बात ही पर्याप्त नहीं है कि हम केवल व्यक्ति के जीवन के प्रति सम्मान प्रकट करें, किन्तु हमें उसके व्यक्तित्व और उसकी संपत्ति की पवित्रता को भी अनिवार्य रूप से आदर देना चाहिए। यह दृष्टिकोण जैन व्रतों के सार को व्यक्त करता है जो इस प्रकार वर्णित हैं - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये अणुव्रत कहलाते हैं जब गृहस्थों के लिए बताए जाते हैं और जब यथार्थरूप से साधुओं द्वारा पालन किये जाते हैं तो महाव्रत कहलाते हैं।

इनका अध्ययन यह बताता है कि “वे एक दूसरे पर आश्रित और एक दूसरे के पूरक हैं।” यह बात बेनीप्रसाद द्वारा विचारोत्तेजक निबन्ध (World Problems and Jaina Ethics, Lahore 1945, pp. 17-18) में अच्छी प्रकार से कही गयी है। “जब किसी एक व्रत का मानवीय संबंधों के लिए उपयोग किया जाता है तो तार्किकरूप से दूसरे व्रत भी इसमें आ जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता है तो वास्तव में दूसरे व्रतों के बिना कोई भी व्रत अपने आप में निरर्थक सिद्ध होगा। उन व्रतों में से प्रथम अर्थात् अहिंसा मुख्य मानी गयी है। यह (अहिंसा) समस्त उच्च जीवन का आधार है, जैन और बौद्ध नैतिक नियमों में यह (अहिंसा) मानवतावाद से अधिक व्यापक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण सचेतन सृष्टि समाविष्ट है। अहिंसा की तरह अस्तेय और अपरिग्रह दिखने में निषेधात्मक हैं, किन्तु वास्तव में प्रयोग में विधेयात्मक हैं। पाँचों अणुव्रत मिलकर जीवन की नैतिक और आध्यात्मिक धारणा का निर्माण करते हैं। ये स्व-उत्कर्ष के महान सिद्धान्त के प्रति निष्ठा व्यक्त करते हैं। इन्हें मूल्यों का उत्कर्षीकरण भी कहा जा सकता है।”

जैनधर्म में जीवन-चर्या दो प्रकार से प्रस्तावित की गई है। एक जीवन-चर्या तो साधु के लिए है जिसने सांसारिक बंधनों को तोड़ दिया है और दूसरी गृहस्थ के लिए है जिसके ऊपर कई सामाजिक उत्तरदायित्व हैं। साधुओं और गृहस्थों के कर्तव्यों के प्रतिपादन के लिए जैनधर्म में अत्यधिक मात्रा में साहित्य विकसित हुआ है। आधारभूत निर्देशन और दण्डात्मक नियंत्रण ने साधुओं और गृहस्थों को सम्यक्चारित्र पर चलने के लिए सहायता की है। आशाधर का धर्माभूत (1240 ईस्वी के बाद), दो प्रकार के आचार को एक इकाई में प्रस्तुत करने का संभवतः सुन्दर प्रयास है। जैन साहित्य में साधु के जीवन से संबंधित शोधप्रबन्ध प्रचुर मात्रा में हैं। संक्षिप्त सर्वेक्षण के लिए कोई भी व्यक्ति S. B. Deo द्वारा लिखित (History of Jaina Monachism, Deccan College, Poona 1956) का उपयोग कर सकता है। गृहस्थों के लिए प्रतिपादित आचार का आलोचनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन आर. विलियम्स द्वारा लिखित जैन योग (Oxford University Press, Oxford 1963) नामक उत्तम निबन्ध में प्राप्त होता है। इसके लिए कोई भी व्यक्ति दूसरे स्रोत जैसे-वसुनन्दि श्रावकाचार (संपादक हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस 1952), उपासकाध्ययन (संपादक कैलाशचन्द्र शास्त्री, बनारस 1964), और एम. मेहता द्वारा लिखित जैन आचार (वाराणसी 1966) का भी अध्ययन कर सकता है।

प्रस्तुत कृति में डॉ. के. सी. सोगाणी ने जैनधर्म के आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों के सम्पूर्ण आयामों का उत्कृष्ट सर्वेक्षण करने का प्रयास किया है। जैन आचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर कुछ टिप्पणियाँ प्रस्तुत करने के पश्चात् (I) वे तात्त्विक आधार को विस्तार से प्रस्तुत करते हैं जिस पर जैन आचार का भवन विस्तृतरूप से निर्मित है (II-III)

उसके पश्चात् गृहस्थों और मुनियों का आचार विस्तारपूर्वक वर्णित है (IV-V) जैन आचार आध्यात्मिक विकास का मार्ग दिखाता है, इसलिए उसका रहस्यात्मक महत्त्व है (VI) यद्यपि जैनधर्म की अपनी स्वयं की विशेषताएँ हैं फिर भी जैन और अजैन के नैतिक सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन से निश्चय ही लाभकारी परिणाम उत्पन्न होते हैं (VII) जैन आचार सिद्धान्तों का दूगामी सामाजिक तात्पर्य है और उनका आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाना उपयुक्त है। जैनधर्म के तीन सिद्धान्त- अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त यदि उचित रूप से समझे जाएँ और उनको व्यवहार में क्रियान्वित किया जाय तो वे किसी भी व्यक्ति को ऐसे सम्माननीय नागरिक बना सकते हैं, जो अपनी जीवन दृष्टि में मानवीय होते हैं और परिग्रह वृत्ति से अनासक्त होते हैं और अपनी मानसिक स्थिति में उच्चकोटि के बुद्धिसम्पन्न और सहनशील होते हैं। सारांश यह है कि डॉ. सोगाणी ने हमें जैनधर्म के आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रामाणिक रीति से प्रदर्शित करते हुए उनका सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन प्रदान किया है।

डॉ. सोगाणी की प्रस्तुत कृति मूल रूप से वही शोधप्रबन्ध है जो राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पीएच. डी की उपाधि के लिए स्वीकृत की गयी थी। यह उनका अत्यधिक स्नेह था कि उन्होंने जीवराज जैन ग्रंथमाला में प्रकाशन के लिए उसको हमारी व्यवस्था में सौंपा।

सामान्य सम्पादक होने के नाते हम ट्रस्ट कमेटी के सदस्यों और प्रबन्ध समिति को ऐसे प्रकाशनों के वास्ते वित्त-प्रबन्ध के लिए मन से धन्यवाद अर्पित करते हैं। इस बात की आशा की जाती है कि इस प्रकार 'जैन आचारशास्त्रीय सिद्धान्तों' का सर्वाङ्गपूर्ण प्रतिपादन भारतीय धार्मिक चिंतन

के विद्यार्थियों के लिए जैनधर्म को समीचीन रूप से समझने के योग्य बना देगा।

हमें यहाँ लिखते हुए अत्यधिक दुःख है कि श्री गुलाबचन्द हीराचन्दजी का 22. 1. 67 को निधन हो गया। वे ट्रस्ट कमेटी के अध्यक्ष थे और उन्होंने ग्रंथमाला की प्रगति में तीव्र रुचि दर्शायी। सामान्य सम्पादकों ने उनमें निहित उपकारिता की निधि को तथा उच्चकोटि के उदारतावाद को खो दिया। उनके कारण अधिकतर हमारे प्रकाशनों की नीति की रूपरेखा तैयार हुई। यह हमारे लिए संतोष की बात है कि उनके पश्चात् उनके भाई श्री लालचंद हीराचंदजी हमारे अध्यक्ष बने। सेठ श्री लालचंदजी गतिशील प्रेरणा के लिए प्रसिद्ध हैं, उनकी यह प्रेरणा, हम आशा करते हैं कि, संघ की गतिविधियों में नवीन उत्साह भर देगी।

हम मन से धन्यवाद करते हैं श्री वालचन्द देवीचन्दजी और श्री माणकचन्द वीरचन्दजी का जो इन प्रकाशनों में सक्रिय रुचि ले रहे हैं। उनके सहयोग और सहायता के बिना सामान्य संपादकों के लिए विविध प्रकार के प्रकाशनों को संपादित करना कठिन होता।

कोल्हापुर
ए. एन. उपाध्ये

जबलपुर
एच. एल. जैन



प्रस्तावना

प्रस्तुत कृति मूलतः वही शोधप्रबन्ध है जो राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पीएच.डी की उपाधि के लिए सन् 1961 में स्वीकृत की गयी थी। इस कृति में सर्वप्रथम यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि सम्पूर्ण जैन आचार व्यवहार में अहिंसा की ओर उन्मुख है। जैनाचार्यों के द्वारा अहिंसा की परिपूर्ण अनुभूति को मानव जीवन का उच्चतम आदर्श समझा गया है। अहिंसा जैनधर्म में इतनी प्रमुख है कि इसे जैनधर्म का प्रारंभ और अंत कहा जा सकता है। समन्तभद्राचार्य का कथन है कि “सभी प्राणियों की अहिंसा परमब्रह्म की अनुभूति के समान है।” यह कथन अहिंसा के उच्चतम स्वभाव को प्रकाशित करता है।

अहिंसा का आदर्श क्रमिकरूप से अनुभव किया जाता है। जो व्यक्ति अहिंसा का आंशिकरूप (Partially) से पालन करने के योग्य होता है वह गृहस्थ कहलाता है और जो अहिंसा का पूर्णरूप (Completely) से पालन करता है, यद्यपि परिपूर्णरूप (Perfectly) से नहीं कर पाता वह संन्यासी या मुनि कहा गया है। निःसन्देह मुनियों का जीवन अहिंसा के अनुभव के लिए पूरा आधार प्रदान करता है, किन्तु इसका परिपूर्णरूप से अनुभव केवल आध्यात्मिक (रहस्यात्मक) अनुभव की पूर्णता में ही संभव है जो कि अर्हत् अवस्था कही जाती है।

इस प्रकार गृहस्थ और मुनि दो पहिये हैं जिस पर जैन आचाररूपी गाड़ी बिलकुल आसानी से चलती है। जैन आचार्यों को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने इन दो आचारों को अपनी दृष्टि में सदैव रखा। उन्होंने कभी भी एक-दूसरे के कर्तव्यों का घालमेल करने या उनको गड्ड-मड्ड करने

का समर्थन नहीं किया। परिणामस्वरूप उन्होंने जैनधर्म में गृहस्थ-आचार को उतनी ही स्पष्टता से विकसित किया जितनी स्पष्टता से मुनि-आचार विकसित किया गया। मुनिप्रवृत्ति से अभिभूत होकर जैनधर्म ने गृहस्थ-आचार की उपेक्षा नहीं की। अणुव्रतों के सिद्धान्त को विकसित करने के कारण जैनधर्म ने ऐसा मार्ग दिखा दिया है जिस पर गृहस्थ अपनी जीवन-यात्रा सफलतापूर्वक चला सकता है। अणुव्रतों का सिद्धान्त भारतीय चिन्तन को जैनधर्म का अद्वितीय योगदान है।

द्वितीय, यह बताने का प्रयास किया गया है कि जैन तत्त्वमीमांसा जैन नीतिपरक सिद्धान्त के प्रतिपादन का आधार है। जैन दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत तात्त्विक दृष्टि अनेकान्तवाद या अनिरपेक्षवाद के नाम से जानी जाती है। द्रव्य के स्वरूप को प्रकट करने के लिए जैन दार्शनिक निरपेक्ष दृष्टिकोण का अनुमोदन नहीं करते हैं। जैनदर्शन की दृढ़ धारणा है कि दर्शन में निरपेक्षवाद नैतिक चिन्तन का विनाशक है, क्योंकि निरपेक्षवाद सदैव चिन्तन की प्रागनुभविक प्रवृत्ति पर आधारित होता है जो अनुभव से बहुत दूर है। इस दृष्टि से समन्तभद्र का कथन महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार बंधन और मोक्ष, पुण्य और पाप की जो धारणा है वह अपनी प्रासंगिकता खो देती है यदि हम द्रव्य के स्वभाव के निर्माण में केवल नित्यता या अनित्यता को स्वीकार करते हैं। थोड़े से चिन्तन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि अहिंसा की धारणा जो जैन आचार के क्षेत्र से संबंधित है पदार्थों के तात्त्विक स्वभाव का तार्किक परिणाम है।

तृतीय, यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि अध्यात्मवाद में जैन आचार की पराकाष्ठा है। इस प्रकार यदि आचार का मूल स्रोत तत्त्वमीमांसा है तो अध्यात्मवाद इसकी परिसमाप्ति है। आचारशास्त्र

तात्त्विक चिन्तन और आध्यात्मिक अनुभव को जोड़नेवाली कड़ी है। यह कहना गलत न होगा कि जैनधर्म केवल आचार और तत्त्वमीमांसा ही नहीं है बल्कि अध्यात्मवाद भी है। यह इस बात से स्पष्ट है कि जैन आचार्यों द्वारा निरन्तर सम्यग्दर्शन (आध्यात्मिक जाग्रति) की वास्तविक उपलब्धि पर जोर दिया गया है। सम्यग्दर्शन की पृष्ठभूमि के बिना सम्पूर्ण जैन आचार चाहे गृहस्थ का हो या मुनि का पूर्णतया निर्जीव है। इस प्रकार सम्पूर्ण जैन आचार में अध्यात्मवाद व्याप्त है। आध्यात्मिक जीवन-पथ के प्रति गहन निष्ठा के कारण जैनधर्म ने आध्यात्मिक विकास के चौदह सोपान विकसित किये हैं जिन्हें गुणस्थान कहा जाता है। मैंने इन सोपानों को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत सम्मिलित किया है, उदाहरणार्थ- (1) जाग्रति से पूर्व आत्मा का अंधकारपूर्ण काल (आत्मा की अंधकारपूर्ण रात्रि), (2) आत्मजाग्रति (आत्मा का जागरण), (3) आचार-सम्बन्धी शुद्धीकरण, (4) प्रकाश-ज्योति, (5) प्रकाश-ज्योति के पश्चात् अंधकार का काल और (6) सामान्य अनुभव से परे लोकोत्तर जीवन। इन सोपानों से परे एक अवस्था और है जिसे सिद्ध-अवस्था के नाम से जाना जाता है।

चतुर्थ, यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जैनधर्म में भक्ति की सैद्धान्तिक संभावना है। सामान्यतया यह माना जाता है कि जैनधर्म और भक्ति आपस में एक दूसरे के विरोधी शब्द हैं, क्योंकि भक्ति में एक ऐसे दिव्य/ईश्वरीय हस्ती के अस्तित्व की पूर्व मान्यता है जो भक्त की आकांक्षाओं का सक्रियता से उत्तर दे सके और जैनधर्म में ऐसी हस्ती की धारणा अमान्य है। यह कहना सत्य है कि जैनधर्म ऐसी ईश्वरीय हस्ती के विचार का समर्थन नहीं करता है, लेकिन जैनधर्म में निःसन्देह अर्हत् और सिद्ध, जो कि दिव्य अनुभव प्राप्त आत्माएँ हैं,

भक्ति के विषय हो सकते हैं, किन्तु वे मानवीय प्रार्थनाओं के विषय होते हुए भी मानवीय सुख-दुःख से बिलकुल तटस्थ रहते हैं। लेकिन जैनधर्म के अनुसार अर्हत् या सिद्ध के प्रति भक्ति की प्रेरणा इस बात से उत्पन्न होती है कि उनमें से किसी की भी भक्ति आत्मा में उच्चतम प्रकार के पुण्य का संचय करती है, जो फलस्वरूप भौतिक और आध्यात्मिक लाभ उत्पन्न करती है। अर्हत् या सिद्ध के प्रति भक्ति के द्वारा हमारे विचार और संवेग शुद्ध होते हैं जिसके परिणामस्वरूप आत्मा में पुण्य का संचय होता है। इस प्रकार का पुण्य केवल पत्थर की पूजा करने से उत्पन्न नहीं हो सकता है, इसलिए जैनधर्म में अर्हत् और सिद्ध की पूजा का महत्त्व है। इस तथ्य के कारण समन्तभद्र यह घोषणा करते हैं कि अर्हत् की आराधना आत्मा में अत्यधिक पुण्य का संचय करती है। जो उसकी भक्ति करता है वह समृद्धि को पाता है और जो उसकी निन्दा करता है वह दुःख में गिरता है। ऐसा समझने पर साधक को ईश्वर (अर्हत् और सिद्ध) के अलगाव पूर्ण व्यवहार के लिए निराशा की श्वास नहीं लेनी चाहिये। सच तो यह है कि जो उनकी भक्ति करते हैं, वे स्वतः ही उन्नत हो जाते हैं।

अंत में इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है कि वास्तव में वैदिक, जैन और बौद्ध से प्राप्त तात्त्विक निष्कर्षों में भेद होते हुए भी उनके प्रतिपादकों ने वस्तुओं की असारता से परे जाने के लिए समान पद्धतियों और युक्तियों का सहारा लिया है। इस प्रकार वे मनोवैज्ञानिक, आचारशास्त्रीय और धार्मिक भाव के स्तर पर असाधारण रूप से सहमत हैं। इसके साथ ही मैंने कुछ महत्त्वपूर्ण पाश्चात्य आचारशास्त्रीय सिद्धान्तों की भी आलोचनात्मक दृष्टि से परीक्षा की है।

इस कार्य के आयोजन में जिन स्रोतों का उपयोग किया गया है

उनके प्रति पादटिप्पण में ऋण स्वीकार किया गया है। शब्दशः अनुवाद की अपेक्षा मूल स्रोतों का अनुवाद करने के लिए भाव का अधिक ध्यान रखा गया है।

प्रारम्भ में ही मैं गहरी कृतज्ञता के भाव को अभिव्यक्त करता हूँ स्व. मास्टर मोतीलालजी संधी, जयपुर (राजस्थान) के प्रति, जिन्होंने न केवल शब्दों से किन्तु अपने जीवन और चिन्तन के तरीके से मुझे दर्शन की ओर मोड़ा। आध्यात्मिक व्यक्तियों में मैं उन्हें उच्च श्रेणी का मानता हूँ। व्यक्तियों को जाति और मत के पक्षपात के बिना बदलने के तरीके के कारण और आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन के प्रति रुचि उत्पन्न करने के कारण वे मुझे सुकरात की याद दिलाते हैं। पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, प्राचार्य, जैन संस्कृत कॉलेज, जयपुर (राजस्थान) मेरे लिए सदैव प्रकाश और प्रेरणा के स्रोत बने रहे। उनका अगाध पाण्डित्य, गंभीर चिंतन और संत जैसा जीवन मेरे लिए मार्गदर्शक बना। उनके कारण ही मैं मूल स्रोतों के अध्ययन में लगा रहा और उनको वर्तमान रूप में प्रस्तुत कर सका। मेरे लिए वे दृढ़ता, धैर्य, साहस और अक्षुण्ण उत्साह के प्रतीक हैं। मैं उनका कितना ऋणी हूँ— यह मेरी अभिव्यक्ति से परे है।

मैं पूर्णरूप से कृतज्ञता स्वीकार करता हूँ मेरे सुपरवाइजर डॉ. वी. एच. दाते के प्रति, जिनके निर्देशन और स्नेही व्यवहार से वर्तमान कार्य कर सका। यहाँ मुझे यह उल्लेख करते हुए हिचकिचाहट नहीं है कि उनके कारण ही मैं मेरा स्नातकोत्तर अध्ययन पूरा कर सका और दर्शन में कई नयी बातें सीख सका जिनको केवल लम्बे व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण ही सीखा जा सकता है। मैं उनके वात्सल्य को कभी नहीं भुला सकता। डॉ. ए. एन. उपाध्ये जो ग्रंथमाला के सामान्य संपादक है उनके प्रति मेरी

कृतज्ञता की अभिव्यक्ति के लिए शब्द अपर्याप्त है। विविध बौद्धिक कार्यों के होते हुए भी उन्होंने इस कार्य के प्रकाशन में व्यक्तिगत रुचि ली और उन्होंने एक से अधिक बार प्रूफों का संशोधन किया। मैं मन से धन्यवाद अर्पित करता हूँ जीवराज जैन ग्रंथमाला के ट्रस्टियों का जिन्होंने इस कार्य के प्रकाशन की व्यवस्था की। मैं अत्यन्त ऋणी हूँ श्री पी. सिन्हा, प्राचार्य, आर. आर. कॉलेज, अलवर (राजस्थान) का जिन्होंने मुझे ऐसे कार्यों को करने के लिए सभी प्रकार की आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की। मैं मेरे मित्र श्री बी. आर. भण्डारी को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपना अत्यधिक समय अनुक्रमणिका तैयार करने में लगाया। इस अवसर पर मुझे धन्यवाद देना नहीं भूलना चाहिये अपनी पत्नी श्रीमती कमला देवी सोगाणी को जिन्होंने अपने बहुत से स्वार्थों के त्याग द्वारा और मूल स्रोतों से सामग्री निकालने में मदद द्वारा मुझे व्यावहारिक प्रोत्साहन दिया।

उदयपुर

के. सी. सोगाणी

1. 3. 67



पाँचवाँ अध्याय मुनि का आचार

पूर्व अध्याय (प्रथम खण्ड का चतुर्थ अध्याय) का संक्षिप्त विवरण

प्रथम खण्ड के चतुर्थ अध्याय में हमने गृहस्थ के आचार का वर्णन किया है। प्रथम, हमने यह बताया है कि गृहस्थ अशुभ मनोभावों को पूर्णतया हटाने में असमर्थ होता है। द्वितीय, हमने हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह के स्वरूप का वर्णन किया है और इससे गृहस्थ के आंशिक व्रतों (अणुव्रतों) के क्षेत्र को जानने का प्रयास किया है। तृतीय, मूलगुणों की विभिन्न धारणाओं का सर्वेक्षण करने के साथ ही रात्रि-भोजन की समस्या पर भी विचार प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ, सात शीलव्रतों के स्वरूप और उनकी विभिन्न प्रकार से की गई व्याख्या का निरूपण किया गया है। पाँचवाँ, उपर्युक्त व्रतों से प्रतिमाओं का सामञ्जस्य स्थापित करने के पश्चात् ग्यारह प्रतिमाओं की धारणा का वर्णन किया गया है। छठा, पक्ष, चर्या और साधन के आधार से गृहस्थ के आचार का प्रतिपादन करते हुए मूलगुणों की धारणाओं, बारह व्रतों, ग्यारह प्रतिमाओं और सल्लेखना को इन तीनों में सुव्यवस्थित रूप से सम्मिलित किया गया है। अंत में, सल्लेखना (मृत्यु का आध्यात्मिक स्वागत) का आत्मघात से भेद करने के पश्चात् उसके स्वरूप और उसकी प्रक्रिया को बताया गया है।

मुनिधर्म क्रियाओं से नहीं बल्कि हिंसा से पीछे हटना है

गृहस्थ के आचार का उद्देश्य आंशिक रूप से हिंसा को कम करना है लेकिन मुनि के आचार का उद्देश्य अंतिम अवस्था तक हिंसा

के निषेध का पालन करना है। पूर्ण त्यागमय जीवन (मुनि-जीवन) अशुभ भावों के उन्मूलन को संभव बनाता है जो गृहस्थ के आंशिक त्याग की स्थिति में संभव नहीं होता है। मुनिधर्म क्रिया-जगत से पीछे हटना नहीं बल्कि हिंसा-जगत से पीछे हटना है। वास्तव में क्रिया त्यागी नहीं जाती है लेकिन क्रिया का लोकातीत स्वरूप सांसारिक स्वरूप का स्थान ले लेता है। मुनिधर्म का आचरण जो सम्यग्दर्शन सहित शुभ भावों से सम्बन्धित होता है, मन्द कषाय के रूप में आध्यात्मिक बाधाओं की उपस्थिति के कारण अहिंसा की पूर्ण अनुभूति को रोक देता है। निःसन्देह मुनि-जीवन इस अनुभूति के लिए पूर्ण भूमिका प्रदान करता है लेकिन इसका सम्पूर्ण अनुभव केवल रहस्यात्मक अनुभूति की परिपूर्णता में ही संभव होता है। साधक जिसमें अशुभ की समझ इस सीमा तक गहरी हो गई है कि वह स्वयं की निम्नकोटि की स्थिति के प्रति विद्रोह उत्पन्न करता है, फलस्वरूप वह शनैः-शनैः भोग और उपभोग की वस्तुओं को अंतिम सीमा तक त्याग देता है और इसके कारण वैराग्य (अनासक्ति) की भावना का पोषण करता है और उच्च अवस्था में अपने मन को लगाने का प्रयास करता है। दूसरे शब्दों में, उच्च जीवन के प्रति उत्साह के कारण ग्यारह प्रतिमाओं में प्रस्तावित आचरण का पालन करने के पश्चात् साधक ज्यों ही ग्यारहवीं प्रतिमा पार करता है, वह पूर्ण त्यागमय जीवन में प्रवेश करता है। निःसन्देह यह सत्य है कि प्रत्येक प्रतिमा पर आरोहण, बाह्य और आन्तरिक, उच्चानुशासन की तरफ होता है, लेकिन त्याग अपने को उसी समय पूरा व्यक्त करता है जब साधक आखिरी प्रतिमा में प्रस्तावित अनुशासन को पार कर लेता है। भोग और उपभोग की वस्तुओं का शनैः-शनैः त्याग करना या उच्च मार्ग पर चलना आध्यात्मिक प्रेरकों से प्राप्त प्रेरणा के कारण होता है। परम्परा के अनुसार ये प्रेरक बारह अनुप्रेक्षाएँ कही जाती

(2) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

हैं। वे अनिवार्य रूप से गृहस्थ को मुनि-जीवन की ओर ले जाती है। परिणामस्वरूप, संसार में संघर्षरत मनुष्य नये जीवन में प्रवेश करता है। अगले पृष्ठों में हम लोकातीत जीवन के विकास के लिए प्रेरकों और उस जीवन से संबंधित आध्यात्मिक और नैतिक आचरण का वर्णन करेंगे, जिनका निरन्तर पालन आत्मानुभव के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकेगा।

आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रेरक के रूप में अनुप्रेक्षाएँ और उनका महत्त्व

मुनियों के आध्यात्मिक और नैतिक आचरण का वर्णन प्रारंभ करने से पहले हम आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए प्रेरकों (अनुप्रेक्षाओं) के स्वरूप और उनके महत्त्व पर विचार करेंगे। ये समान रूप से गृहस्थ और साधु को तात्त्विक, आध्यात्मिक और नैतिक अज्ञान को नष्ट करने के लिए और उन सब बाधाओं को जीतने के लिए तैयार करते हैं जो नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति को रोकती हैं। यदि वे (प्रेरक) गृहस्थ को पूर्ण त्यागमय जीवन में झाँकने की शक्ति प्रदान करते हैं, तो वे साधुओं के लिए पथप्रदर्शक होते हैं। वे प्रेरक हैं¹—(1) सतत परिवर्तनशीलता या वस्तुओं की क्षणभंगुरता का प्रेरक (अनित्य-अनुप्रेक्षा), (2) मृत्यु की अनिवार्यता का प्रेरक (अशरण-अनुप्रेक्षा), (3) पुनर्जन्म का प्रेरक (संसार-अनुप्रेक्षा), (4) एकाकीपन का प्रेरक (एकत्व-अनुप्रेक्षा), (5) आत्मा और अनात्मा के बीच तात्त्विक भेद का प्रेरक (अन्यत्व-अनुप्रेक्षा), (6) शरीर की अशुचिता का प्रेरक (अशुचि-अनुप्रेक्षा), (7) विश्व की व्यवस्था का प्रेरक (लोक-अनुप्रेक्षा), (8) सम्यक्मार्ग को कठिनता से प्राप्त करने का प्रेरक

1. तत्त्वार्थसूत्र, 9/7

(बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा), (9) कर्मों के इहलोक और परलोक के दुःखों का प्रेरक (आस्रव-अनुप्रेक्षा), (10) कर्मों को रोकने की विधि का प्रेरक (संवर-अनुप्रेक्षा), (11) कर्मों को हटाने की विधि का प्रेरक (निर्जरा-अनुप्रेक्षा) और (12) जिनदेव द्वारा धर्म का उपदेश देने का प्रेरक (धर्म-अनुप्रेक्षा)– ये सब विपत्तिग्रस्त सांसारिक जीवन से बच निकलने के लिए प्रेरक हैं। इनमें से अंतिम तीन हमारे लिए उच्च जीवन को प्राप्त कराने के लिए ऊर्जा को सही दिशा में प्रवाहित करते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रथम नौ अनुप्रेक्षाएँ निषेधात्मक प्रेरक हैं और अंतिम तीन सकारात्मक प्रेरक हैं। पूर्ववर्ती सांसारिक मनुष्य के जीवन को प्रस्तुत करती हैं जब कि परवर्ती साधक के नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए व्यावहारिक मार्ग प्रस्तुत करती हैं।

अनुप्रेक्षा का अर्थ है अनुचिंतन² अर्थात् पुनरावृत्त्यात्मक चिंतन। पूज्यपाद के द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र की टीका में अनुप्रेक्षा का अर्थ है, शरीर आदि के स्वरूप का आद्योपान्त चिन्तन।³ कार्तिकेयानुप्रेक्षा विकास की ओर ले जानेवाले उदात्त सिद्धान्तों पर चिन्तन के रूप में अनुप्रेक्षा को प्रतिपादित करती है।⁴ दोनों में भेद का कारण है कि पूर्ववर्ती विवरण निषेधात्मक प्रेरकों पर जोर देता है जब कि परवर्ती सांसारिक अशान्ति से बचने का उपाय बताता है अर्थात् सकारात्मक प्रेरकों पर जोर देता है। अनुप्रेक्षाएँ आध्यात्मिक विकास में सहायक होती हैं। ये साधक को कषायों के क्षेत्र से वैराग्य की ओर ले जाती हैं।⁵ ये अनुप्रेक्षाएँ भावों की शुद्धि प्राप्त करने के लिए, मोक्ष की इच्छा उत्पन्न करने के

2. तत्त्वार्थसूत्र, 9/7

3. सर्वार्थसिद्धि, 9/2

4. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 97

5. ज्ञानार्णव, 2/6

लिए, आत्मसंयम और वैराग्य के विकास के लिए, अंत में, कषायों के उन्मूलन के फलस्वरूप शांति की अनुभूति के लिए प्रतिपादित की गयी हैं।⁶ मूलाचार के अनुसार ये अनुप्रेक्षाएँ वैराग्य उत्पन्न करती हैं और जो उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेता है वह कर्म-बंधन के विच्छेद के फलस्वरूप मोक्ष प्राप्ति कर लेता है।⁷ सामान्यतया ये अनुप्रेक्षाएँ साधक को सांसारिक संबंधों और लौकिक विचारों से ऊपर उठा देती हैं, फलस्वरूप ध्यान और मोक्ष के लिए साधक तैयार हो जाता है।

प्रत्येक प्रेरक (अनुप्रेक्षा) का विवरण

अब हम प्रत्येक प्रेरक (अनुप्रेक्षा) के स्वरूप का वर्णन करेंगे-

(i) सतत परिवर्तनशीलता या वस्तुओं की क्षणभंगुरता का प्रेरक (अनित्य-अनुप्रेक्षा)- प्रत्येक वस्तु परिवर्तन के अधीन है। जन्म मरण के साथ रहता है, यौवन बुढ़ापे के साथ सम्बद्ध होता है, धन और वैभव किसी भी समय लुप्त हो सकते हैं और शरीर विभिन्न प्रकार के रोगों का शिकार हो सकता है।⁸ इस प्रकार वस्तुओं की अनित्य अवस्था हमारे सम्मुख खड़ी रहती है अर्थात् जो कुछ भी उत्पन्न होता है वह अनिवार्य रूप से नष्ट होता है।⁹ निरन्तर परिवर्तनशील पर्यायों में आसक्ति कुमार्ग पर ले जाती है और जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को आच्छादित कर देती है। शरीर, प्रतिष्ठा, ऐन्द्रिक सुख और भोगोपभोग की वस्तुएँ जल में बुलबुले के समान या बर्फ के ढेर के समान या

6. ज्ञानार्णव, 2/ 5, 6

7. मूलाचार, 763, 764

8. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 5

ज्ञानार्णव, 2/10

9. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 4

इन्द्रधनुष के समान या बादलों में बिजली की चमक की तरह अस्थिर होती हैं।¹⁰ सांसारिक सुखों और वस्तुओं को क्षणभंगुर जानकर साधक को उनका संग छोड़ देना चाहिए और उस ज्ञान का उपयोग आध्यात्मिक उन्नति के लिए करना चाहिए जिससे परम सुख उत्पन्न हो सके।¹¹ कुन्दकुन्द हमको बताते हैं कि शरीर, धन-सम्पत्ति, सुख और दुःख, मित्र और शत्रु आत्मा के शाश्वत साथी नहीं हैं। चाहे गृहस्थ हो या मुनि जो इससे प्रेरणा प्राप्त करता है वह आत्मा पर ध्यान से मोहरूपी गाँठ को नष्ट कर देता है।¹² क्षणभंगुरता के इस प्रेरक को इस प्रकार उच्च प्राप्ति के लिए उपयोग में लाया जा सकता है।

(ii) मरण की अनिवार्यता का प्रेरक (अशरण-अनुप्रेक्षा)-

मरण की अनिवार्यता आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रभावशाली प्रेरक के रूप में काम करती है। मरण के आगमन पर व्यक्ति निराश्रितता का अनुभव करता है। मरण पक्षपात-रहित होता है। मरण का व्यवहार युवा और वृद्ध, अमीर और गरीब, बहादुर और कायर सबके साथ एक-सा होता है।¹³ कोई भी सांसारिक वस्तु मरण की चुनौती को रोकने में समर्थ नहीं होती है।¹⁴ न तो सांसारिक शक्तियाँ और न ही दैवी शक्तियाँ हमें मरण के चंगुल से बचा सकती हैं।¹⁵ इसके अतिरिक्त यहाँ कोई स्थान

10. सर्वार्थसिद्धि, 9/7

भगवती आराधना, 1727

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 7, 9

11. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 22

12. प्रवचनसार, 2/101, 102

13. ज्ञानार्णव, 2/11

14. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 24

15. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 25, 26

मूलाचार, 697

ज्ञानार्णव, 2/16

नहीं है जहाँ मरण-पक्षी अपने पंख नहीं फैला सकता हो।¹⁶ मरते हुए प्राणियों को बचाने के लिए कोई भी चाल और युक्ति सफल नहीं होती है।¹⁷ इस प्रकार जो व्यक्ति मरण की अनिवार्यता के जरिए आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रेरक विकसित करना चाहते हैं, वे आवश्यक रूप से ऐसा जीवन खोजते हैं जो इसकी पकड़ से सदैव परे हो।

(iii) पुनर्जन्म का प्रेरक (संसार-अनुप्रेक्षा)- प्रत्येक प्राणी कषायों के कुप्रभावों से जन्म और मरण का शिकार हो जाता है।¹⁸ आवागमनात्मक संसारी आत्मा एक शरीर को छोड़ती है और लगातार दूसरे शरीर में प्रवेश करती जाती है।¹⁹ कर्म बंधन के दबाव में सांसारिक आत्मा निरन्तर जन्म-मरण का शिकार रहती है।²⁰ संक्षेप में चार गतियाँ कही जाती हैं- मनुष्यगति, देवगति, नरकगति और तिर्यचगति। जहाँ आवागमनात्मक संसारी आत्मा उत्पन्न होती है और दुःखों में फँस जाती है।²¹ दुर्जेय दुःख नरक और तिर्यचगति से संबंधित रहते हैं।²² देवगति के जीव उनकी तुलना में अधिक सुखी सोचे जा सकते हैं। लेकिन उनमें इन्द्रिय सुखों की अत्यधिक लालसा होती है जिससे मानसिक दुःख उत्पन्न होते हैं। अतः उनको केवल ऊपरी रूप से सुखी कहा जा सकता

16. ज्ञानार्णव, 2/18

17. ज्ञानार्णव, 2/18

18. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 33

19. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 32

20. ज्ञानार्णव, 2/2

21. मूलाचार, 707

ज्ञानार्णव, 2/1, 17

22. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 34-44

है।²³ मनुष्य के दुःखों का अस्तित्व बहुत स्पष्ट है। गर्भ का दुःख, माता-पिता-रहित बचपन, रोगी शरीर, गरीबी, झगड़ालु पति या पत्नी, उत्तरदायित्व-रहित पुत्र और पुत्री आदि के कारण मनुष्य अनगिनत दुःखों को भोगता है।²⁴ इस प्रकार चारों गतियों के दुःख साधक के लिए प्रेरक बने रहते हैं जिससे वह शाश्वत रूप से दुःखों के पार जा सके।

(iv) **एकाकीपन का प्रेरक (एकत्व-अनुप्रेक्षा)**- जीव बिना किसी संग के शुभ और अशुभ क्रियाओं के परिणामों को भोगने के लिए अकेला होता है।²⁵ मित्र और संबंधी कितने ही नजदीक और प्रिय हों फिर भी हमारे पूर्व कर्मों के दुःखों को भोगने में समर्थ नहीं होते हैं यद्यपि वे हमारे धन को भोगने में समर्थ हो सकते हैं।²⁶ कोई भी व्यक्ति अपने आश्रितों को अनैतिक कमाई से भोजन करा सकता है लेकिन फल भोगने के समय उसे अकेला ही दुःख भोगना पड़ेगा।²⁷ जो व्यक्ति इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता है वह राग और द्वेष के बंधन से स्वयं को मुक्त कर लेता है।

(v) **आत्मा और अनात्मा के बीच तात्त्विक भेद का प्रेरक (अन्यत्व-अनुप्रेक्षा)**- आत्मा स्थायी रूप से शरीर से भिन्न है।

23. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 58-61

24. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 45, 46, 51, 52, 53

25. मूलाचार, 698, 699

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 74-76

26. ज्ञानार्णव, 2/2, 6

भगवती आराधना, 1748

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 77

27. ज्ञानार्णव, 2/5

भगवती आराधना, 1747

(8) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

यद्यपि सांसारिक रूप से वह शरीर से एक कही जाती है तो भी लोकातीत रूप से पूर्णतया इससे भिन्न होती है। शरीर इन्द्रियग्राह्य, अचेतन, अनित्य, आदि और अंत-सहित होता है जब कि आत्मा अतीन्द्रिय, चेतन, नित्य, अनादि और अनंत होता है।²⁸ जब शरीर आत्मा के इतना नजदीक होते हुए भी पराया है तो आत्मा का संसार की दूसरी वस्तुओं से भिन्न होने की बात असंगत नहीं है।²⁹ ऐसे आधारभूत भेद का अनुभव हमको जगत की बाहरी वस्तुओं से दूर हटा देगा और हमको आत्मा की गहराई में जाने के लिए दृढ़ करेगा।³⁰

(vi) शरीर की अशुचिता का प्रेरक (अशुचि-अनुप्रेक्षा)- शरीर वृद्धावस्था में जर्जरित हो जाता है और उसमें अनेक रोग संभव हैं। ऐसे शरीर के प्रति आसक्ति आत्मविकास में बाधा डालती है। शरीर की अशुचिता व्यक्ति के आत्मोत्थान की प्रेरक है। यह विरक्तता उत्पन्न करती है और फलस्वरूप व्यक्ति को आत्मकल्याण की ओर उन्मुख करती है।³¹

(vii) विश्व की व्यवस्था का प्रेरक (लोक-अनुप्रेक्षा)- आकाश का वह भाग जिसमें जीव-अजीव स्थित हैं, लोक कहा जाता है और शेष अलोकाकाश कहा जाता है।³² यह विश्व अनादि है,

28. सर्वार्थसिद्धि, 9/7

29. मूलाचार, 702

सर्वार्थसिद्धि, 9/7

30. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 82

31. सर्वार्थसिद्धि, 9/7

32. ज्ञानार्णव, 2/1

मूलाचार, 713

स्वयंसिद्ध है, अविनाशी है और इसका कोई कर्ता नहीं है।³³ इसमें सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव को लिए हुए हैं, केवल जीव द्रव्य अपने मूल स्वभाव से अनादिकाल से च्युत है। उसके स्वरूप को यथार्थ जानकर व्यक्ति के लिए आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होना अपेक्षित है। इस अनुप्रेक्षा के चिन्तन से साधक लोक में अपनी स्थिति के महत्त्व को पहचानकर आत्मानुभव प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। अतः लोक पर चिन्तन आत्मकल्याण के लिए प्रेरणादायी होता है।

(viii) **सम्यक्मार्ग को कठिनता से प्राप्त करने का प्रेरक (बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा)**— तीन रत्नों की प्राप्ति जो दिव्य अन्तःशक्तियों को प्रकट करने में समर्थ है, उनकी उपलब्धि यथेष्ट योग्यता की कमी के कारण कठिन है। मनुष्य का मोक्ष प्राप्ति के लिए विशेषाधिकार तो होता है किन्तु मनुष्य योनि में पैदा होना एक संयोग है। फिर तप और ध्यान के लिए अवसर मिलना भी एक संयोग है।³⁴ कहा गया है कि अनवरत रूप से आवागमन करते हुए एक सचेतन प्राणी संयोग से मनुष्य रूप में पैदा होता है तो भी प्रतिष्ठित परिवार में जन्म लेना और अच्छे लोगो की संगति मिलना उतना ही विरल है जितना अंधे के हाथ बटे लगना। सौभाग्य से व्यक्ति सभी सुविधाओं सहित मनुष्य रूप में पैदा हो सकता है किन्तु उसके लिए सम्यक् मार्गदर्शन का अभाव हो सकता है।³⁵ यदि वह भी प्राप्त हो जाए तो इन्द्रिय सुख उसके समय को नष्ट कर

33. मूलाचार, 712

ज्ञानार्णव, 2/3, 4

34. मूलाचार, 755, 756

भगवती आराधना, 1867, 1869

35. सर्वार्थसिद्धि, 9/7

सकते हैं।³⁶ फिर यदि वह इन्द्रिय सुखों से भी मुक्त हो जाए तो तप और ध्यान के पालने में भी कई कठिनाईयाँ आ सकती हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति को प्रमाद व आलस्य त्याग कर आध्यात्मिक अनुभूति के मार्ग पर चलने के लिए संकल्प करना चाहिए।

(ix) कर्मों के इहलोक और परलोक के दुःखों का प्रेरक (आस्रव-अनुप्रेक्षा)– शुभ और अशुभ कर्मों के आस्रव का होना सांसारिक जीवन का आधार है। आस्रव के परिणाम के बारे में विचारने से साधक शुभ और अशुभ से परे उठने के लिए उत्साहित होगा।

(x-xii) अब तक हमने उन प्रेरकों की व्याख्या की है जो हमें आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति के लिए प्रेरणा दे सकें। अब हम उन प्रेरकों का वर्णन करेंगे जो हमें सांसारिक आवागमन के दुःखों से छुड़ाने में समर्थ हो सकें। (x) कर्मों को रोकने की विधि का प्रेरक (संवर-अनुप्रेक्षा), (xi) कर्मों को हटाने की विधि का प्रेरक (निर्जरा-अनुप्रेक्षा) और (xii) जिनदेव द्वारा धर्म का उपदेश देने का प्रेरक (धर्म-अनुप्रेक्षा)– इन पर चिन्तन करने से हम संसार रूपी जाल से निकल सकेंगे। गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र संवर के कारण हैं³⁷ जब कि तप निर्जरा का कारण है।³⁸ हम अनुप्रेक्षा का वर्णन कर चुके हैं। गुप्ति, समिति, परीषहजय और तप का वर्णन अगले पृष्ठों में करेंगे। धर्म के दस प्रकारों का वर्णन अगले अध्याय में

36. सर्वार्थसिद्धि, 9/7

37. तत्त्वार्थसूत्र, 9/2, 3
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 96, 102

38. तत्त्वार्थसूत्र, 9/2, 3
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 96, 102

करेंगे।³⁹ आत्मा का ध्यान करना सम्यक्चारित्र है⁴⁰ और आध्यात्मिक विकास के लिए इसका पालन अनिवार्य है।⁴¹ धर्म जो सम्यक् रूप से कहा गया है अहिंसा उसका वास्तविक लक्षण है; सत्य उसका आधार है; विनयशीलता उसका मूलकारण है; क्षमाशीलता उसकी शक्ति है; संयम उसका कवच है; आत्म-नियंत्रण उसकी आवश्यकता है और अपरिग्रह उसका सहारा है।⁴²

मुनि-जीवन का औपचारिक ग्रहण

उपर्युक्त वर्णित प्रेरकों के कारण साधक सांसारिक क्रियाओं के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण रखता है किन्तु आत्मा के प्रति स्वीकारात्मक दृष्टिकोण अपनाता है। वह सभी प्रकार के सांसारिक संबंधों से विदाई ले लेता है और सम्यक् अनुशासन का पालन करके वह ऐसे साधुओं के प्रति साष्टांग प्रणाम करता है जो रहस्यात्मक गुणों से सुसज्जित हैं, जो सद्गुणों से भरपूर हैं, जो शारीरिक रूप से आकर्षक हैं, जो परिपक्व आयुवाले हैं, जो मानसिक असंयम से रहित हैं और जो अन्य मुनियों द्वारा प्रशंसित और सम्मानित हैं।⁴³ वह उनके द्वारा दीक्षा ग्रहण करता है⁴⁴ और परिणामस्वरूप सभी सांसारिक वस्तुओं की आसक्ति से दूर होकर इन्द्रियों और मन को अपने वश में करके वह वस्त्र-रहित हो जाता है और इस तरह उसका बाह्य स्वरूप जन्मानुसार बन जाता है,⁴⁵ वह हिंसा

39. तत्त्वार्थसूत्र, 9/6

40. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 99

41. राजवार्तिक, 9/2, 7

42. सर्वार्थसिद्धि, 9/7

43. प्रवचनसार, 3/2, 3 अमृतचन्द्र की टीका सहित

44. प्रवचनसार, 3/2, 3 अमृतचन्द्र की टीका सहित

45. प्रवचनसार, 3/4

आदि से स्वतंत्र हो जाता है और शरीर के प्रति आसक्ति नहीं रखता है।⁴⁶ इसके अतिरिक्त उसका आन्तरिक स्वरूप ऐसा निर्मित होता है कि वह आवागमन को निषेध करने का कारण बनता है। वह मोह से दूर हो जाता है और अपने भावों और क्रियाओं को शुद्ध करता जाता है।⁴⁷

अंतरंग और बाह्य साथ-साथ रहते हैं

यह याद रखना चाहिए कि अंतरंग और बाह्य स्वरूप एक दूसरे के साथ-साथ चलते हैं। समन्तभद्र का मत है कि जिस प्रकार सांसारिक क्रियाओं में अंतरंग और बाह्य कारणों के साथ-साथ होने से कार्य सम्पन्न होता है उसी प्रकार मोक्ष की प्रक्रिया में भी यह शाश्वत नियम काम करता है।⁴⁸ वे एक ही सिक्के के अग्रभाग और पृष्ठभाग हैं। अतः न तो केवल बाह्य पक्ष पर और न केवल अंतरंग पर जोर देना चाहिए। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे लोग जो जैनधर्म द्वारा प्रस्तावित बाह्य त्याग की निंदा करते हैं वे इस बात को भूल जाते हैं कि जैन आचार्यों ने अंतरंग पक्ष के महत्त्व पर भी जोर दिया है। जैनधर्म यह बात स्वीकार नहीं करता कि मनुष्य की आन्तरिक आध्यात्मिकता बाह्य जीवन में प्रकट हुए बिना रह सकती है। वह अंतरंग आध्यात्मिकता के बिना केवल बाहरी त्याग की पूर्णरूप से निंदा करता है। अंतरंग अवस्था बिना बाह्य अभिव्यक्ति के और बाह्य अभिव्यक्ति बिना अंतरंग अवस्था के (दोनों ही) एकान्त हैं। केवल बाह्य बोझिल हो जाता है और केवल अंतरंग बोधगम्य नहीं होता है। यह विश्वास करते हुए कि अंतरंग शुद्धता बाह्य तपों में अपनी स्थिरता के लिए प्रकट होगी जैसे तेल बीज के बाह्य आवरण से विकृत होने से बच

46. प्रवचनसार, 3/5

47. प्रवचनसार, 3/6 (ए. एन. उपाध्ये का अनुवाद)

48. स्वयंभूस्तोत्र, 33, 60

जाता है या गिरी बाह्य छिलके से सुरक्षित हो जाती है, जैनाचार्यों ने मानसिक शुद्धता के महत्त्व पर तथा तीव्र कषायों के संयम पर जोर दिया है।

आध्यात्मिक ज्ञान से रहित व्यक्ति के लिए बाह्य तप करते हुए भी कर्मों को नष्ट करने के लिए करोड़ों जीवन भी कम प्रतीत होते हैं, वे कर्म आध्यात्मिक ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति के द्वारा क्षण भर में नष्ट किये जा सकते हैं।⁴⁹ आध्यात्मिक भूमिका के बिना जो बाह्य तपों में लीन है उस अज्ञानी जीव को समझाने के लिए यह उपर्युक्त बात पर्याप्त है। वास्तव में ये दोनों पक्ष गुंथे हुए हैं अतः दोनों मूल्यवान और न्यायसंगत हैं। बाह्य परिग्रह को छोड़ने का उद्देश्य है- अंतरंग तीव्र कषाय और इच्छा को त्यागना, जिसके बिना बाह्य त्याग (तप) विवेकहीन और निरर्थक है।⁵⁰ जरा-सी भी अंतरंग मलिनता आत्मा को उच्चतम अवस्था में जाने से रोकती है जैसे महान तपस्वी बाहुबलि क्रे जीवन में घटित हुआ। शिवभूति जिनके भाव शुद्ध थे उन्होंने तुष-मास भिन्न⁵¹ कहकर ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया यद्यपि वे आगम-ज्ञान से रहित थे। इस प्रकार धार्मिक अनुशासन और तप, शास्त्रस्वाध्याय और ज्ञान अपने उचित परिणामों को भावों की अनुपस्थिति में उत्पन्न नहीं करते हैं। कभी-कभी वे उच्च सम्मान प्राप्त करते हैं तो भी भावों की शुद्धता विचारों में अन्तर्निहित होती है यद्यपि स्पष्टरूप से भाषा में अभिव्यक्ति न की गई हो।

49. प्रवचनसार, 3/38

50. भावपाहुड, 3

51. भावपाहुड, 53

अंतरंग और बाह्य स्वरूप का अंगीकार

अंतरंग और बाह्य स्वरूप को उत्कृष्ट गुरु के संरक्षण में ग्रहण करने के पश्चात् प्रस्तावित अनुशासन की प्रक्रिया को प्राप्त करके साधक श्रमण बन जाने का सम्मान प्राप्त कर लेता है।⁵² चूंकि वह आध्यात्मिक यात्रा के प्रारंभ में अनवरत रूप से आत्मिक अनुभव में नहीं ठहर सकता इसलिए वह अद्विष्ट मूलगुणों को धारण करता है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, लोच (केशलोच), षट् आवश्यक, अचेलकत्व (वस्त्ररहितपना), अस्नान (स्नान नहीं करना), भूमिशयन (जमीन पर सोना), अदंतधावन (दातुन न करना), खड़े होकर भोजन करना (स्थितिभोजन) और एक बार आहार लेना (एकभक्त)।⁵³

गृहस्थ की अपेक्षा मुनि-जीवन की श्रेष्ठता

गृहस्थ के अणुव्रतों की आंशिकता मुनि के जीवन में समाप्त हो जाती है, अतः मुनि महाव्रतों का पालन करता है। दूसरे शब्दों में, गृहस्थ के जीवन में अणुव्रतों के कारण अशुभ भाव होते हैं महाव्रतों के पालन करने से वे विलीन हो जाते हैं और केवल शुभ भाव शेष रहते हैं जो भी रूपान्तरित हो जाते हैं जैसे ही आत्मा के क्षेत्र में उड़ान भरी जाती है। दूसरे शब्दों में अशुभ आस्रव जो कि तीव्र कषायों की उपस्थिति के कारण होते हैं वे रुक जाते हैं और आत्मा प्रथम बार ही अशुभ कर्मों के आस्रव के अवरोध का अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त गृहस्थ के

52. प्रवचनसार, 3/7

53. प्रवचनसार, 3/8, 9

मूलाचार, 2, 3

आचारसार, 16

अनंगार धर्मावृत्त, 9/84, 85

अनुशासन से अधिक मुनि का अनुशासन होता है। मुनि का जीवन शुभ ध्यान, शुभ योग और शुभ लेश्या का उदाहरण है। ये गृहस्थ के जीवन में अशुभ भाव के मिश्रण के बिना नहीं पाये जाते हैं।

पाँच महाव्रत

(i) अहिंसा महाव्रत- इस महाव्रत में सब जीवों (त्रस और स्थावर, स्थूल और सूक्ष्म) के प्रति मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से अहिंसा का पालन किया जाता है।⁵⁴ मुनि अपने भावों को शुद्ध कर सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखता है और अपनी कषायों को वश में करके अहिंसा महाव्रत का पालन करता है।⁵⁵ इस महाव्रत का उचित प्रकार से पालन करने के लिए मुनि गमन, भाषा, विचार, वस्तुओं को संभालने, भोजन और पान के प्रति सावधान रहता है।⁵⁶

(ii) सत्य महाव्रत- इस महाव्रत में मुनि सभी प्रकार के असत्यों को त्याग देता है क्योंकि किसी प्रकार के असत्य का जीवन में

-
54. ज्ञानार्णव, 8/8
नियमसार, 56
मूलाचार, 5/289
भगवती आराधना, 776
आचारांग, पृष्ठ 202
55. ज्ञानार्णव, 8/10, 11
56. मूलाचार, 337
अनगार धर्मावृत, 6/34
तत्त्वार्थसूत्र, 7/4
भगवती आराधना, 1206
आचारांग, पृष्ठ 203, 204
चारित्रपाहुड, 32

होना तीव्र कषाय का द्योतक है जो कि मुनि जीवन के लिए असंगत है। असत्य और पीड़ादायक वचन जो राग, द्वेष, हास्य, भय, क्रोध और लालच के दबाव में बोले जा सकते हैं उनको सत्य महाव्रती त्याग देता है और साथ में आगम के अर्थ का अनुचित व्याख्यान भी त्याग दिया जाता है।⁵⁷ पाँच प्रकार की भावनाएँ जो सत्य महाव्रत को सशक्त करती हैं, वे हैं- वचन में विवेक रखना, क्रोध, लोभ, भय और हँसी-मजाक से अपने आपको रोकना।⁵⁸

(iii) अस्तेय महाव्रत- अस्तेय महाव्रत में सभी प्रकार की चोरी का त्याग कर दिया जाता है। दूसरे शब्दों में सभी परद्रव्य जो गाँव, शहर या जंगल में पड़े होते हैं उनका त्याग करना अस्तेय महाव्रत के अन्तर्गत समाविष्ट है।⁵⁹ इस महाव्रत में सम्मिलित हैं- अपने से बड़ों से पूछकर पुस्तकादि लेना, स्वामी से आवश्यक वस्तुओं की अनुमति प्राप्त करना, ग्रहण की हुई वस्तु के प्रति अनासक्त होना, निर्दोष वस्तुओं को प्राप्त करना, साधर्मियों की वस्तुओं को प्रस्तावित नियमानुसार संभालना।⁶⁰

57. मूलाचार, 6, 290

आचारांग, पृष्ठ 204

58. तत्त्वार्थसूत्र, 7/5

अनगार धर्मावृत, 4/45

आचारांग, पृष्ठ 204, 205

चारित्रपाहुड, 33

भगवती आराधना, 1207

59. मूलाचार, 7, 291

आचारांग, पृष्ठ 205

भगवती आराधना, 951

60. मूलाचार, 339

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार छोड़े हुए आवास और एकान्त स्थान जैसे गुफा आदि में ठहरना, और दूसरे व्यक्ति जो ठहरने का इरादा रखते हैं उनको मना न करना और भोजन की पवित्रता को बनाए रखना और झगड़ालु आदत न रखना अस्तेय महाव्रत में सम्मिलित किये गये हैं।⁶¹

(iv) **ब्रह्मचर्य महाव्रत**— ब्रह्मचर्य महाव्रत का धारक मुनि महिलाओं से कामसंबंध को त्याग देता है⁶² और साथ में काम-संतुष्टि के लिए अप्राकृतिक तरीकों को भी पूर्णतया नकार देता है। ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करनेवाला मुनि इन्द्रियआसक्ति, कषायोत्तेजक एवं आवश्यकता से अधिक भोजन करना, नाच-गान में रस लेना एवं उत्तेजनाजनक आवास आदि को भी त्याग देता है।⁶³

(v) **अपरिग्रह महाव्रत**— अपरिग्रह महाव्रत में मुनि अंतरंग अशुद्धता से और बाह्य चेतन एवं अचेतन परिग्रह से अपने आपको दूर

61. सर्वार्थसिद्धि, 7/6

चारित्रपाहुड, 34

62. मूलाचार, 292

आचारांग, पृष्ठ 2/15/4

63. ज्ञानार्णव, 11/7, 8, 9

अनगार धर्माभूत, 4/61

मूलाचार, 996, 997, 998

भगवती आराधना, 879, 880

उत्तराध्ययन, 16/1-10

रखता है।⁶⁴ परिग्रह की विद्यमानता होने पर कर्मों का बंधन अपरिहार्य है। इसलिए मुनि सब प्रकार के परिग्रह को त्याग देते हैं।⁶⁵ दूसरे शब्दों में यह बात अचिन्त्य है कि परिग्रह का संसर्ग होते हुए व्यक्ति मोह का, असंयम का, सांसारिक व्यस्तता का शिकार न हो। जो व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं में तल्लीन होगा वह शुद्धात्मा की अनुभूति करने में असमर्थ रहेगा।⁶⁶

परिग्रह के अन्तर्गत शरीर के प्रति थोड़ा-सा भी राग सम्मिलित है। वे व्यक्ति जो मोक्ष-प्राप्ति के इच्छुक हैं उनको शरीर के प्रति भी अनासक्ति का उपदेश दिया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दूसरे प्रकार का तो कोई भी परिग्रह प्रशंसित नहीं किया जा सकता है। यह तो आदर्श स्थिति है। जो साधु इतनी ऊँचाई पर नहीं जा सकता वह उस परिग्रह को स्वीकार कर सकता है जो दूसरे के द्वारा न चाहा गया हो और मानसिक अशुद्धता उत्पन्न न करता हो।⁶⁷

जब आध्यात्मिक अनुभूति के शिखर पर चढ़ा जाता है तो किसी भी प्रकार का परिग्रह निरर्थक होता है। उससे नीचे वह मुनि ऐसा परिग्रह रख सकता है जो शुभोपयोग के अनुरूप हो या शुभभावों को बढ़ानेवाला हो। इस प्रकार का परिग्रह मुनि-जीवन के पालने के लिए अनिवार्य है। ऐसे परिग्रह के अन्तर्गत जन्मदत्त शरीर, गुरु के आध्यात्मिक

64. नियमसार, 56

मूलाचार, 293

आचारांग, 2/15/5

भगवती आराधना, 1117

65. प्रवचनसार, 3/19

66. प्रवचनसार, 3/21

67. प्रवचनसार, 3/23

वचन, आत्मस्वरूप को समझानेवाले पवित्र ग्रंथ और आध्यात्मिकरूप से उन्नत आत्माओं के प्रति भक्ति और विनम्रता सम्मिलित है।⁶⁸ मूलाचार के अनुसार अपरिग्रह महाव्रत के स्वरूप में चेतन और अचेतन परिग्रह का त्याग उपदिष्ट है और स्वीकृत परिग्रह के प्रति अनासक्ति का भाव भी।⁶⁹ इस प्रकार एक मुनि शास्त्र (ज्ञानोपधि) मयूरपिच्छि (संयमोपधि) और पानी का बर्तन (कमंडलु-शौचोपधि) रख सकता है।⁷⁰ जिस प्रकार शुद्धभाव के अभाव में भी मुनि सुशोभित होता है उसी प्रकार उपर्युक्त परिग्रह भी मुनि को सुशोभित करता है। पानी का बरतन शौचशुद्धि के लिए काम में लिया जाता है और मयूरपिच्छि जीवों की हिंसा से बचने के लिए। इस प्रकार की पिच्छि में पाँच गुण होते हैं। यह मिट्टी और पसीने से मलिन नहीं होती है, अहिंसक रहती है, मुलायम होती है और हल्की होती है।⁷¹ इस महाव्रत का उचित पालन उस समय होता है जब मुनि पाँचों इन्द्रियों के सुखों के प्रति उदासीन हो जाता है।⁷²

-
68. प्रवचनसार, 3/25
 69. मूलाचार, 9
 70. मूलाचार, 14
 71. भगवती आराधना, 98
 मूलाचार, 910
 72. आचारांग, पृष्ठ 209, 210
 मूलाचार, 341
 तत्त्वार्थसूत्र, 7/8
 चारित्रपाहुड, 36
 भगवती आराधना, 1211

तीन गुप्ति और पाँच समिति

अब हम गुप्ति और समिति का वर्णन करेंगे। मुनि के लिए आदर्श वस्तु यह है कि वह पूर्णरूप से मन-वचन और काय की क्रियाओं को संयमित करे और अपने आप को आत्मा के अनुभव में दृढ़ करे। ऐसे उदात्त और पवित्र प्रयास को 'गुप्ति' कहते हैं। दूसरे शब्दों में वह कारण जिसके जरिए आत्मा सांसारिक अवस्था से स्थायी सुरक्षा प्राप्त करता है और जन्म-मरण से परे जाने की शक्ति को अभिव्यक्त करता है वह 'गुप्ति' कहलाती है।⁷³ जो साधक ऐसा आरोहण करता है वह सुखरूप और दुःखरूप वस्तुओं से अपने आप को रोक लेता है और वह शान्त और शाश्वत आत्मा में रहता है। जब मुनि अपने आपको इस ऊँचाई पर आरोहण करने में असमर्थ पाता है तो वह पाँच समितियों का पालन करता है- अर्थात् (1) ईर्यासमिति, (2) भाषासमिति, (3) एषणासमिति, (4) आदाननिक्षेपणसमिति और (5) उत्सर्ग या प्रतिष्ठापनासमिति।⁷⁴

'गुप्ति' का अर्थ संदर्भ के परिवर्तन से बदल जाता है। उच्चतम आरोहण के दृष्टिकोण से इसका अर्थ है- मन-वचन और काय को गुण और दोषों से तथा शुभ और अशुभ क्रियाओं से हटाना, किन्तु शुभोपयोगी मुनि के दृष्टिकोण से इसका अर्थ है- केवल अशुभ क्रियाओं से मन-वचन और काय को हटाना।⁷⁵ निश्चयनय के अनुसार

73. सर्वार्थसिद्धि, 9/2

74. तत्त्वार्थसार, 6/6

तत्त्वार्थसूत्र, 9/5

मूलाचार, 10, 301

75. मूलाचार, 334, 331

भगवती आराधना, 1189

आसक्ति आदि से मुड़ना मन का नियंत्रण है, असत्य से मुँह मोड़ना या मौन रखना वचन पर नियंत्रण है। शरीर के प्रति अनासक्ति तथा हिंसा से दूर रहना शरीर का नियंत्रण है।⁷⁶ व्यवहारनय के अनुसार अशुभ भावों को त्यागना मनोगुप्ति है, झूठ बोलने को त्यागना वचनगुप्ति है और बंधन, छेदन, मारण आदि शारीरिक क्रियाओं से दूर रहना कायगुप्ति है।⁷⁷

अशुभ प्रवृत्तियों को त्यागने के लिए ध्यान और स्वाध्याय प्रस्तावित किये गये हैं।⁷⁸ यहाँ यह कहा जा सकता है कि गुप्ति निषेध पर जोर देती है जब कि समिति सकारात्मक भाव को प्रोत्साहित करती है। पूर्ववर्ती पापपूर्ण क्रियाओं का निषेध करती है जब कि परवर्ती पुण्यरूप क्रियाओं का पालन करना स्वीकार करती है।⁷⁹ प्राणियों के सभी प्रकार के दुःखों को टालना समिति का उद्देश्य है जब कि मुनि गमन कर रहा हो (ईर्यासमिति), बोल रहा हो (भाषासमिति), भोजन कर रहा हो (एषणासमिति), वस्तुओं को उठा और रख रहा हो (आदाननिक्षेपण-समिति) तथा शौचक्रिया कर रहा हो (उत्सर्ग या प्रतिष्ठापनासमिति)।⁸⁰ ये समितियाँ मुनि को पापों से दूर रखती हैं जैसे पानी में कमल का पत्ता

76. नियमसार, 69, 70 पद्मप्रभमलधारी देव की टीका सहित

मूलाचार, 332, 333

भगवती आराधना, 1187, 1188

77. नियमसार, 66, 67, 68

78. मूलाचार, 335

भगवती आराधना, 1190

79. उत्तराध्ययन, 24/26

80. सर्वार्थसिद्धि, 9/2

चारित्रपाहुड, 37

होता है या कवचसहित व्यक्ति युद्ध में होता है।⁸¹ तीन गुप्ति और पाँच समिति प्रवचनमाता कहलाती है क्योंकि वे मुनि के दर्शन, ज्ञान और चारित्र की उसी प्रकार रक्षा करती हैं जैसे माता अपने बच्चे की रक्षा करती है।⁸²

पाँच समिति

(i) **ईर्यासमिति**— जो मुनि ईर्यासमिति के अनुशासन के अनुरूप गमन करता है उसको ध्यान देना चाहिए— (क) मार्ग की पवित्रता का, (ख) प्रकाश की उपयुक्तता का, (ग) एकाग्रता का, (घ) उद्देश्य का और (ङ) गमन की प्रक्रिया का।⁸³

(क) वह मार्ग उचित होता है जो ऐसे प्राणियों से रहित होता है जो साधारण रूप से गमन करते समय पीड़ित होते हैं जैसे कीड़े-मकोड़े, चींटी आदि, उसी प्रकार बीज, घास, हरी पत्तियाँ, कीचड़ आदि भी।⁸⁴ वह मार्ग उपयुक्त है जिस पर बार-बार गाड़ियाँ और दूसरे वाहन चल चुके हैं, गाय, बैल, घोड़े, स्त्री और पुरुष चल चुके हैं, जिस पर हल

81. मूलाचार, 326, 327, 328

भगवती आराधना, 1201, 1202

82. मूलाचार, 336

उत्तराध्ययन, 24/1, 2

83. मूलाचार, 302

भगवती आराधना, 1191

उत्तराध्ययन, 24/4

तत्त्वार्थसार, 6/7

84. भगवती आराधना, 1191 विजयोदया और मूलाराधनादर्पण की टीका सहित

चल चुका है और जो सूर्य के द्वारा तप्त किया जा चुका है।⁸⁵ (ख) गमन के लिए सूर्य का प्रकाश या दिन का समय आवश्यक है।⁸⁶ चन्द्रमा, तारे और कृत्रिम प्रकाश सूर्य के प्रकाश के स्थान पर काम में नहीं लिये जा सकते।⁸⁷ (ग) मुनि को जमीन पर चलने में एकाग्रता रखनी चाहिए तथा चलते समय उसको स्वाध्याय और पाँच इन्द्रियों के विषयों में लीनता से अलग रहना चाहिए जिससे वहाँ उपस्थित प्राणियों की हिंसा टाली जा सके।⁸⁸ (घ) मुनि को ऐसे उद्देश्य के लिए जो अपने आध्यात्मिक स्तर और प्रतिष्ठा के अनुरूप हों उसकी प्राप्ति हेतु गमन करना चाहिए, उदाहरणार्थ ऐसे उद्देश्य हैं- तीर्थयात्रा, गुरु से मिलना, अन्य प्रतिष्ठित मुनियों से मिलना, धार्मिक विचार-विमर्श की चुनौती का सामना करना और धर्म का उपदेश देना आदि।⁸⁹ (ङ) गमन की प्रक्रिया के रूप में मुनि को धीरे और करुणापूर्वक गमन करना चाहिए, सावधानीपूर्वक चार हाथ जमीन देखकर चलना चाहिए।⁹⁰ दौड़ना, कूदना, पृथ्वी को

85. मूलाचार, 304, 305, 306

86. मूलाचार, 11
नियमसार, 61
उत्तराध्ययन, 24/5

87. भगवती आराधना, 1191 विजयोदया और मूलाराधनादर्पण की टीका सहित

88. भगवती आराधना, 1191 विजयोदया और मूलाराधनादर्पण की टीका सहित
उत्तराध्ययन, 24/8

89. भगवती आराधना, 1191 विजयोदया और मूलाराधनादर्पण की टीका सहित

90. नियमसार, 61
मूलाचार, 11, 103
आचारांग, पृष्ठ 137

खोदना, अन्य दिशाओं की ओर देखकर चलना आदि अनुपयुक्त क्रियाएँ हैं।⁹¹

(ii) **भाषासमिति**— वह मुनि भाषासमिति को पालनेवाला होता है जो चुगली खाने में, दूसरों की हँसी उड़ाने में, आत्म-प्रशंसा में और कठोर शब्द बोलने में रुचि नहीं लेता लेकिन जो अपने या दूसरों के लिए लाभदायक है वही बोलता है।⁹² मुनि को निर्दोष और संक्षिप्त वचन का प्रयोग करना चाहिए और क्रोध, अहंकार, छल-कपट, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और गपशप को छोड़ देना चाहिए।⁹³ मुनि को पापपूर्ण, निन्दनीय, रूक्ष, कठोर भाषा नहीं बोलनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उसको मनमुटाव और गुटबन्दी करनेवाली, दुःखी और अपमान करनेवाली तथा प्राणियों का विनाश करनेवाली भाषा नहीं बोलनी चाहिए।⁹⁴

(iii) **एषणासमिति**— जो मुनि एषणासमिति का पालन करनेवाला होता है वह भोजन की स्वीकृति के लिए निर्धारित किए गये नियमों का पालन करता है।⁹⁵ दूसरे शब्दों में, एषणासमिति का पालन करनेवाला

91. भगवती आराधना, 1191 विजयोदया और मूलाराधनादर्पण की टीका सहित

लिंगपाहुड, 15, 16

92. नियमसार, 61

मूलाचार, 12

93. उत्तराध्ययन, 24/9, 10

94. आचारांग, पृष्ठ 150, 151

भगवती आराधना, 1192

मूलाचार, 307

95. मूलाचार, 13

ऐसा भोजन करता है- जो भोजन हितकारी हो, भक्तिपूर्वक दिया गया हो, शुद्ध हो, अपने लिए तैयार न किया गया हो और न अपने द्वारा अनुमोदन किया गया हो।⁹⁶ जो मुनि दोषमुक्त भोजन करता है, पाप-रहित परिग्रह को उचित रूप से सँभालता है, बैठने और सोने के स्थान को साफ करता है वह एषणासमिति का पालन करनेवाला होता है। इनमें असावधानी रखने से मुनिपद का अपमान होता है।⁹⁷

मुनि बाह्य रूप से भोजन लेते हुए भी अनासक्त रहता है। मुनि शक्ति बढ़ाने के लिए, आयु बढ़ाने के लिए, स्वाद को संतुष्ट करने के लिए, स्वस्थ व आकर्षक व्यक्तित्व प्राप्त करने के लिए भोजन नहीं करता किन्तु भोजन करने का पवित्र उद्देश्य होता है- निरन्तर स्वाध्याय, आत्म-नियंत्रण और बाधा-रहित निरन्तर ध्यान।⁹⁸ वह भोजन करता है- भूख मिटाने के लिए, अन्य मुनियों की सेवा करने के लिए, प्राण और आत्मसंयम की रक्षा के लिए और षट् आवश्यक का पालन करने के लिए।⁹⁹ वह आहार-विहार में नियमनिष्ठ होता है क्योंकि वह अनासक्त होता है और इसलोक और परलोक के प्रति अनासक्तता का दृष्टिकोण अपनाता है।¹⁰⁰ मुनि शुद्धात्मा की अनुभूति के प्रयास के लिए भोजन करता है जैसे एक दीपक में तेल वस्तुओं को स्पष्टरूप से देखने

96. नियमसार, 63

97. मूलाचार, 318, 916

भगवती आराधना, 1197

उत्तराध्ययन, 24/11

तत्त्वार्थसार, 6/9

98. मूलाचार, 481

99. मूलाचार, 479

100. प्रवचनसार, 3/26

के लिए भरा जाता है। इस प्रकार मुनि निर्दोष भोजन प्राप्त करके भी नहीं किये हुए की तरह ही होता है। इस तरह वह कर्मों की दासता का शिकार नहीं होता है।

(iv) **आदाननिक्षेपणसमिति**— आदाननिक्षेपणसमिति का अर्थ है— धार्मिक जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को उठाने और रखने में सावधानी की मानसिक स्थिति को बनाए रखना।¹⁰¹ इसका अर्थ है वस्तुओं को उठाने व रखने से पहले वस्तु और स्थान को आँखों से देख लेना।¹⁰²

(v) **प्रतिष्ठापनासमिति**— प्रतिष्ठापनासमिति प्रस्तावित करती है कि मुनि को ऐसे स्थान पर मल-मूत्रादि का त्याग करना चाहिए जो मनुष्यों द्वारा स्वीकृत हो, आपत्तिजनक न हो,¹⁰³ प्राणियों से रहित हो, एकान्त हो, छिद्र रहित हो और जीव-जन्तु व बीजरहित हो।

पाँच इन्द्रियों का नियंत्रण

यह स्पष्ट तथ्य है कि इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति आध्यात्मिक मार्ग में कठिनाइयाँ उत्पन्न करती है अतः इसका उन्मूलन करने की आवश्यकता है। यह सच है कि मुनि के द्वारा किया गया इन्द्रियों का नियंत्रण नया कार्य नहीं है, क्योंकि वह गृहस्थ-अवस्था में अणुव्रतों का पालन कर ही रहा था किन्तु उच्चजीवन में अपूर्व प्रवेश नये कठोर उत्तरदायित्व उत्पन्न करता है। इस तरह मुनि पाँचों इन्द्रियों को

101. नियमसार, 64

मूलाचार, 14

102. मूलाचार, 319

उत्तराध्ययन, 24/14

103. नियमसार, 65

पूर्णतया नियंत्रित करता है अर्थात् चक्षुइन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय और स्पर्शइन्द्रिय को वह वर्ण, ध्वनि, गंध, स्वाद और स्पर्श की आसक्ति से क्रमशः नियन्त्रित करता है। मुनि इन्द्रियविषयों से प्राप्त सुख व दुःख से पथ-भ्रष्ट नहीं होता है। वह इन्द्रियविषयों को तात्त्विक दृष्टिकोण से देखता है और उनको पुद्गल के विभिन्न रूप मानता है, जो आत्मा के स्वभाव से तात्त्विक रूप से पर है। इस प्रकार उसने यह विश्वास प्राप्त कर लिया है कि कोई भी इन्द्रिय-विषय आत्मलाभ के लिए नहीं है।¹⁰⁴ इन्द्रियों को नियंत्रित करने के लिए मुनि को उचित अनुशासन का पालन करना चाहिए। चक्षुइन्द्रिय न तो सुन्दरता से आकर्षित होनी चाहिए और न ही वस्तुओं की कुरूपता से विकर्षित होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त श्रवणेन्द्रिय को संगीत के राग से, घ्राणेन्द्रिय को सुगन्ध से, रसनाइन्द्रिय को विभिन्न प्रकार के रसों से और स्पर्शइन्द्रिय को विभिन्न प्रकार के स्पर्शों से प्रभावित नहीं होना चाहिए।¹⁰⁵

केशलोंच

यह स्पष्ट है कि बालों का स्वाभाविक बढ़ना रोका नहीं जा सकता है। यदि उनको बढ़ने दिया जाय तो जूँ आदि उत्पन्न हो जायेगी। परिणामस्वरूप हिंसा नहीं टाली जा सकेगी। यदि बाल काटने के उपकरण काम में लिये जाते हैं तो सांसारिक व्यवस्था में लौटना होगा। अतः केशलोंच ही विकल्प है। यह दो, तीन या चार महीने के बाद की

104. समाधिशतक, 55

105. मूलाचार, 17, 18, 19, 20, 21

जानी चाहिए।¹⁰⁶ केशलोंच उपवास का पालन करके दिन में करनी चाहिए।¹⁰⁷ ऐसा करने से संसार से अनासक्ति उत्पन्न होती है, आत्मसंयम बढ़ता है और मुनि व्याकुलता से मुक्त हो जाता है।¹⁰⁸

षट् आवश्यक

षट् आवश्यकों का आध्यात्मिक जीवन से सीधा संबंध होता है। निःसन्देह अन्य मूलगुण भी मुनि के जीवन से संबंधित होते हैं किन्तु वे परोक्ष रूप से उसके जीवन पर प्रभाव डालते हैं। षट् आवश्यकों को सफलतापूर्वक पालने के लिए उनको भी अनिवार्य समझा जाना चाहिए। एक अर्थ में सभी मूलगुण समान है किन्तु मूलगुणों के उन घटकों पर जोर दिया जाना न्यायसंगत है जिनमें आन्तरिक यात्रा निहित होती है क्योंकि आध्यात्मिक जीवन में आन्तरिक परिवर्तन अत्यन्त महत्त्व का होता है। इस प्रकार 'आवश्यक' मुनि के जीवन को रूपान्तरित करने के लिए समर्थ होते हैं और वे उसके जीवन के उद्देश्य का उसको स्मरण कराते हैं।

जो मुनि अपनी आत्मानुभूति के द्वारा शुभ और अशुभ विचारों की पराश्रितता को अस्वीकार करता है वह निश्चयनय से 'आवश्यक'

106. मूलाचार, 29

अनगार धर्माभूत, 9/86, 97

भगवती आराधना, 88, 89

आचारांग, पृष्ठ 189

आचारसार, 1/43

107. मूलाचार, 29

108. मूलाचार, 29

भगवती आराधना, 91

आचारसार, 1/4

को पालनेवाला कहा जाता है।¹⁰⁹ ऐसी उदात्त क्रिया आत्मा की स्वतंत्रता को दर्शाती है। 'आवश्यक' पद का यह अर्थ निश्चय या लोकातीत दृष्टिकोण से है किन्तु जब आत्मा उत्कृष्ट ऊँचाई पर चढ़ने में अपने आपको असमर्थ पाती है तो यह शुभ कर्मों में उतर जाती है और उस दृष्टिकोण से परम्परानुसार 'आवश्यक' छह प्रकार के माने गये हैं, अर्थात् (1) सामायिक, (2) स्तुति, (3) वंदना, (4) प्रतिक्रमण, (5) प्रत्याख्यान और (6) कायोत्सर्ग।¹¹⁰

कुन्दकुन्द के अनुसार आवश्यकों की गणना इस प्रकार की गयी है - प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, कायोत्सर्ग, सामायिक और परमभक्ति। इसका पारम्परिक गणना से थोड़ा ही भेद है। आलोचना प्रतिक्रमण के अन्तर्गत रखी जा सकती है और परमभक्ति स्तुति और वंदना में सम्मिलित की जा सकती है। कुन्दकुन्द परमभक्ति को दो भागों में विभक्त करते हैं- निर्वृत्तिभक्ति और योगभक्ति जिसमें स्तुति और वंदना का स्वरूप देखा जा सकता है। कुन्दकुन्द या तो पारम्परिक गणना को स्वीकार करना नहीं चाहते हैं क्योंकि वे निश्चयनय के दृष्टिकोण से विचार कर रहे हैं या उन्होंने दोनों प्रकार की गणना में कोई भेद नहीं पाया या वे किसी पूर्व परम्परा का उल्लेख कर रहे हैं।¹¹¹ हम कह सकते हैं कि परवर्ती विचारकों ने षट् आवश्यक की पारम्परिक गणना

109. नियमसार, 141, 142, 143, 144, 145, 146, 147

मूलाचार, 515

110. मूलाचार, 516

उत्तराध्ययन, 29/8, 9, 10, 11, 12, 13

111. प्रवचनसार, भूमिका, पृष्ठ 52

को ही स्वीकार किया है।¹¹² अब हम षट् आवश्यकों के बारे में विचार करेंगे।

(i) सामायिक

सामायिक का अर्थ है- जीवन और मरण में, हानि और लाभ में, प्रिय और अप्रिय घटना में, मित्र और शत्रु में, सुख और दुःख में मुनि द्वारा शान्त और निराकुल चित्त का बनाये रखना।¹¹³ गृहस्थ के जीवन में ऐसा चित्त अस्थायी होता है किन्तु मुनि के जीवन में ऐसा चित्त स्थायी रूप से विद्यमान होता है। इस प्रकार मुनि के जीवन में सामायिक में समय की सीमा समाप्त हो जाती है। जो मुनि समता भाव से रहित है उसके लिए वन में रहना, शरीर का दमन करना, विभिन्न प्रकार के उपवास करना, स्वाध्याय करना और मौन रखना उपयोगी नहीं है।¹¹⁴ वह मुनि जो सभी पापों से रहित है, जो तीन गुप्ति का पालन करता है, जो इन्द्रियों में संयम रखता है, जो सभी प्राणियों में समभाव रखता है, जो आर्त और रौद्रध्यान नहीं करता है, जो धर्म और शुक्लध्यान का अभ्यास करता है, जो हमेशा अपने को आसक्ति, दुःख, घृणा, भय और कामासक्ति से दूर रखता है, वह दृढ़ समता भाव (सामायिक) को पालनेवाला कहा जाता है।¹¹⁵

(ii) स्तुति

स्तुति का अर्थ है- चौबीस तीर्थकरों के दिव्य गुणों पर अपने

112. आचारसार, 1/35

अनगार धर्मागत, 8/17, 9/3

113. मूलाचार, 23

114. नियमसार, 124

115. नियमसार, 125, 126, 129, 131, 132, 133

मूलाचार, 524, 525, 526, 529

चिन्तन को लगाना और उनके नाम का ध्यान करना।¹¹⁶ भक्ति के वशीभूत होकर मुनि प्रायः 'जिनदेव' द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा करता है किन्तु यह केवल भक्तिमय भाषा ही है। चूँकि जिनदेव राग व द्वेष से परे हैं, अतः उनसे किसी वस्तु को प्राप्त करने की आशा नहीं की जानी चाहिए।¹¹⁷ दिव्य आत्माओं ने हमें पवित्र उद्देश्य से उपकृत किया है, जिससे हमारे कर्म बंधन की कटुता नष्ट की जा सकती है। यद्यपि उन आत्माओं ने मानसिक द्वैत को पार कर लिया है फिर भी उनकी भक्ति हमारे उद्देश्यों को पूरा कर सकती है और हमारे एकत्रित कर्मों के मल को नष्ट करने में सक्षम है।¹¹⁸ यह उदात्त राग है; और सांसारिक वस्तुओं की चाह के लिए नहीं है।¹¹⁹

(iii) वंदना

वंदना अंतरंग विनय की सूचक है। उसका अर्थ होता है— अरहंत और सिद्ध को प्रणाम करना और उनको भी प्रणाम करना जो गुणात्मक जीवन में आगे बढ़ गये हैं, उदाहरणार्थ— तप-गुरु, श्रुत-गुरु, गुण-गुरु और दीक्षा-गुरु।¹²⁰ दूसरे शब्दों में, उन मुनियों को भी प्रणाम करना चाहिए जो स्वाध्याय और ध्यान में लगे हुए हैं, जो पाँच महाव्रतों का पालन करते हैं और चरित्रहीनता की निन्दा करते हैं और गुणी व्यक्ति के गुणों का प्रसार करते हैं, जो आत्मसंयमी और धैर्यवान होते हैं।¹²¹

116. मूलाचार, 24

अनगार धर्माभूत, 8/37

117. मूलाचार, 567

118. मूलाचार, 569, 570, 571, 572

119. मूलाचार, 572

120. मूलाचार, 25

121. मूलाचार, 595, 596

अनुशासित मुनि को असंयमित मुनियों का आदर नहीं करना चाहिए और गृहस्थ को व राजा को प्रणाम नहीं करना चाहिए।¹²² पारम्परिक स्तुति और वंदना के स्थान पर कुन्दकुन्द परमभक्ति का उल्लेख करते हैं जो व्यावहारिक दृष्टिकोण से मुक्तात्माओं के गुणों की भक्ति है।¹²³ दो प्रकार की परमभक्ति बतायी गयी है अर्थात् निर्वृत्तिभक्ति और योगभक्ति। पूर्ववर्ती का अर्थ है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भक्ति। परवर्ती का अर्थ है तत्त्वों का चिन्तन जो राग आदि को त्याग कर आत्मलीनता को उत्पन्न करता है।¹²⁴

(iv) प्रतिक्रमण

यह संभव है कि मुनि सूक्ष्म कषायों के दबाव में सम्यक्चारित्र की गहराइयों से दूर हो जाए; अतः मुनि को प्रतिदिन आत्म-आलोचना (निन्दा) से उनको शुद्ध करना चाहिए, गुरु के समक्ष अपने दोषों की निन्दा (गर्हा) और अन्त में गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट कर देना चाहिए (आलोचना)।¹²⁵ यह भाव प्रतिक्रमण है और प्रतिक्रमण सूत्र को पढ़ना द्रव्य प्रतिक्रमण है।¹²⁶ जो मुनि भाव प्रतिक्रमण के साथ द्रव्य प्रतिक्रमण करता है वह बहुतायत से कर्मों को समाप्त कर देता है।¹²⁷ यह

122. मूलाचार, 592

123. नियमसार, 135

124. नियमसार, 134, 137, 139

125. अनगर धर्माभूत, 8/62

मूलाचार, 620, 622, 26

126. मूलाचार, 623

अनगर धर्माभूत, 8/62

नियमसार, 94

127. मूलाचार, 625

प्रतिक्रमण व्यवहार दृष्टिकोण से कहा गया है। कुन्दकुन्द पारमार्थिक दृष्टिकोण को अपनाने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं- उच्चतम ध्यान के द्वारा सभी दोषों को त्याग देना प्रतिक्रमण है।¹²⁸ जो मुनि आत्मा का ध्यान करता है सभी विचारों, दोषों, आर्त और रौद्रध्यान, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को छोड़ता है वह वास्तविक प्रतिक्रमण करनेवाला कहा जाता है।¹²⁹ जब तक यह संभव न हो तब तक व्यवहार प्रतिक्रमण जो निश्चय प्रतिक्रमण का सहायक कारण है (उसको) किया जाना चाहिए।

(v) प्रत्याख्यान

प्रत्याख्यान का अर्थ है- मुनि के पवित्र उद्देश्य से जो कुछ भी असंगत है उसको त्यागना।¹³⁰ प्रतिक्रमण पश्चदृष्टि है जबकि प्रत्याख्यान अग्रदृष्टि है। प्रत्याख्यान उसके द्वारा किया जाता है जो मंदकषायी है, आत्मसंयमी है, साहसी है, आवागमन से भयभीत है और जो आत्मा और अनात्मा में भेद करने का अभ्यस्त है।¹³¹ निश्चय दृष्टि से कहा जा सकता है कि जो मुनि शुभ-अशुभ भावों से परे रहता हुआ अपनी आत्मा का ध्यान करता है उसने प्रत्याख्यान का पालन किया है।¹³²

(vi) कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग का अभिप्राय है वह निर्धारित समय के लिए शरीर के

128. नियमसार, 93

129. नियमसार, 83-86, 89-92

130. मूलाचार, 27

आचारसार, 1/40

131. नियमसार, 105, 106

132. नियमसार, 95

प्रति औपचारिक अनासक्ति।¹³³ कायोत्सर्ग के समय शरीर के अंगों में हलन-चलन नहीं होनी चाहिए।¹³⁴ जो मुनि मोक्ष का इच्छुक है, जिसने निद्रा को जीत लिया है, जो आगम का ज्ञाता है, जिसके विचार पवित्र हैं, जिसमें शारीरिक और आध्यात्मिक शक्ति है वह कायोत्सर्ग के योग्य होता है।¹³⁵ यह कायोत्सर्ग आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए हितकर है और कर्मों का विनाशक है।¹³⁶

नग्नता

दिगम्बर मुनि पूर्णतया नग्न होता है।¹³⁷ वह नये जन्मे हुए बालक की तरह होता है।¹³⁸ नग्नता के पालन से मुनि में असाधारण गुण उत्पन्न हो जाते हैं, उदाहरणार्थ अपरिग्रह का भाव, निश्चिन्तता, निर्भयता और परीषहों को जीतने की शक्ति।¹³⁹ इसके अतिरिक्त नग्न मुनि दूसरों में विश्वास उत्पन्न करते हैं, इन्द्रियविषयों के लिए अनादर का भाव दर्शाते हैं और स्वतन्त्रता के प्रति सम्मान व्यक्त करते हैं।¹⁴⁰

अन्य मूलगुण

अस्नान, जमीन पर या शिला पट्टी पर या लकड़ी के तख्ते पर

133. मूलाचार, 28

134. मूलाचार, 650

135. मूलाचार, 651

136. मूलाचार, 652

137. मूलाचार, 30

138. सूत्रपाहुड, 18

बोधपाहुड, 51

139. भगवती आराधना, 83 विजयोदया की टीका सहित

140. भगवती आराधना, 84 विजयोदया की टीका सहित

या सूखी घास पर सोना,¹⁴¹ अदन्तधावन, खड़े होकर दिन में एक बार हथेली में आहार ग्रहण करना- ये अन्य मूलगुण हैं।¹⁴²

इस प्रकार मुनि अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा कर्मों को रोकने (संवर) और विनाश करने (निर्जरा) में समर्पित करता है। परिणामस्वरूप वह परीषहों को जीतना और तपों को करना अपनी अनिवार्यताओं के क्षेत्र में स्वीकार करता है। मुनि उन चीजों से कोई समझौता नहीं करता जो उसको संसार रूपी कीचड़ में फँसा देती हैं। उसका जीवन संसार से पूर्ण विराग का होता है। कोई भी वस्तु जो धार्मिक जीवन से असंगत है और अधर्मी जीवन में साँस लेने के लिए बाध्य करती है उसको समाप्त किया जाना अनिवार्य है। यदि परीषह का सामना उचित दृष्टि से नहीं किया जायेगा तो मुनि जीवन विकृत हो जायेगा और यदि उनका सामना धैर्य, ध्यान और भक्तिपूर्वक किया जायेगा, तो जीत का आनन्द प्राप्त होगा। और यदि तपों को उत्साहपूर्वक किया जाता है तो इच्छा का निरोध हो जाता है और साधक आनन्द प्राप्त कर सकता है। परीषहों को जीतने से कर्मों का आगमन रुकता है¹⁴³ और तप के पालन से कर्मों का आगमन रुकने के साथ संचित कर्म भी नष्ट होते हैं।¹⁴⁴ हम सर्वप्रथम परीषह-जय पर विचार करेंगे।

परीषह- उनकी गणना और व्याख्या

मुनि के जीवन में आनेवाले कष्टों को परीषह कहा जाता है, इनको जीतना और इनसे विचलित न होना परीषह-जय कहा जाता

141. अनगार धर्माभूत, 9/91 टीका सहित

बोधपाहुड, 56

142. मूलाचार, 31, 32, 33, 34, 35, 811

143. तत्त्वार्थसूत्र, 9/2

144. तत्त्वार्थसूत्र, 9/3

है।¹⁴⁵ क्षुधा-पिपासा आदि बाईस प्रकार के परीषहों को सहते हुए जो मुनि सम्यक् मार्ग से च्युत नहीं होता वह परीषहों को जीतनेवाला कहा जाता है।¹⁴⁶ बाईस परीषह इस प्रकार हैं-¹⁴⁷ (1) क्षुधा, (2) तृषा, (3) शीत, (4) उष्ण, (5) दंशमशक, (6) नम्रता, (7) अरति, (8) स्त्री (9) चर्या, (10) निषद्या, (11) शय्या, (12) आक्रोश, (13) वध, (14) याचना, (15) अलाभ, (16) रोग, (17) तृण-स्पर्श, (18) मल, (19) सत्कार-पुरस्कार, (20) प्रज्ञा, (21) अज्ञान और (22) अदर्शन। अब हम प्रत्येक की व्याख्या करेंगे।¹⁴⁸

क्षुधा और तृषा- यह संभव है कि मुनि निर्दोष भोजन और पानी न प्राप्त कर सके तो भी यदि वह क्षुधा और तृषा के दुःख से व्याकुल नहीं होता और अपना स्वाध्याय और ध्यान बराबर करता रहता है तो वह क्षुधा और तृषा परीषह को जीतनेवाला कहा जाता है।
शीत और उष्ण- मुनि का जीवन पक्षी के आवास के समान अनिश्चित होता है; वह जंगल में ठहरता है या पर्वत के शिखर पर ठहरता है, वह शीत वायु और उष्ण वायु से विचलित नहीं होता और अपने आध्यात्मिक उद्देश्य में लगा रहता है तो वह शीत और उष्ण परीषह को जीतनेवाला कहा जाता है।
दंशमशक- जो मुनि मक्खी, मच्छर, साँप, बिच्छु आदि के कारण परेशान नहीं होता और उनको दूर हटाने का प्रयास नहीं करता किन्तु आध्यात्मिक विकास के संकल्प में लगा रहता है वह दंशमशक

145. तत्त्वार्थसूत्र, 9/8

146. उत्तराध्ययन, 2

147. तत्त्वार्थसूत्र, 9/9

उत्तराध्ययन, 2

148. सर्वार्थसिद्धि, 9/9

उत्तराध्ययन, 2

परीषह को जीतनेवाला कहा जाता है। **नग्नता**— जो मुनि जन्मजात बच्चे की तरह नग्न रहता है और जिसका हृदय कामातुर भावों से ग्रसित नहीं होता और जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह नग्नता परीषह को जीतता है।¹⁴⁹ **अरति**— जो मुनि इन्द्रियों के दमन से, रोगों से, दुष्ट व्यक्तियों के व्यवहार से परेशान नहीं होता वह अरति परीषह को जीतनेवाला कहा जाता है। **स्त्री**— जो मुनि कामातुर स्त्रियों के हाव-भाव से भ्रमित नहीं होता वह स्त्री परीषह को जीतनेवाला कहलाता है। **चर्या**— जो मुनि प्रस्तावित नियमों के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करते हुए काँटों आदि के दुःख से विचलित नहीं होता है वह चर्या परीषह को जीतनेवाला कहा जाता है। **निषद्या**— जो मुनि शमशान में या सूनसान घरों में या गुफा में बैठा है और वहाँ शेर की गर्जना से भी भयभीत नहीं होता है, जो कठिन आसनों का अभ्यस्त होता है उसने निषद्या परीषह को जीत लिया है। **शय्या**— जो मुनि अनवरत स्वाध्याय और ध्यान करके सोने के लिए उबड़-खाबड़ स्थान प्राप्त करता है तो भी जिसका चित्त व्याकुल नहीं होता है वह शय्या परीषह को जीतनेवाला कहा जाता है। **आक्रोश**— जो मुनि मनुष्यों के दुर्व्यवहार के प्रति उदासीन रहता है और मानसिक रूप से अशान्त नहीं होता है उसने आक्रोश परीषह को जीत लिया है। **वध**— जो मुनि अपनी शांत अवस्था को शरीर के काटे जाने पर भी नहीं खोता है उसके वध परीषह-जय होता है। **याचना**— जो मुनि भोजन, दवा, आवास आदि नहीं माँगता चाहे उसके प्राण नष्ट हो जाएँ तो उसने याचना परीषह को जीत लिया है। **अलाभ**— अलाभ परीषह को जीतना उस समय कहा जाता है जब मुनि गृहस्थ से भोजन न मिलने पर मानसिक शांति को बनाए रखता है।

149. सर्वार्थसिद्धि, 9/9

रोग- अनेक रोगों से ग्रसित होने पर भी जो मुनि धैर्य से उनको सहता है और अपने आवश्यक अनुशासन को नहीं टालता है उसने रोग परीषह जीत लिया है। **तृण-स्पर्श-** जो मुनि काँटों आदि से परेशान नहीं होता है, जो निराकुल रहता है, जो सदैव चलने में, सोने में, बैठने में प्राणियों की अहिंसा में लगा रहता है वह तृण-स्पर्श परीषह को जीतनेवाला कहलाता है। **मल-** वह मुनि जिसके शरीर पर मिट्टी आदि मैल जमा हो गया है और यदि वह उसके द्वारा जरा सा भी मानसिक रूप से अशान्त नहीं होता किन्तु सदैव आत्मा के कर्म रूपी कीचड़ को सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी शुद्ध पानी से धोने में लगा रहता है उसने मल परीषह जीत लिया है। **सत्कार-पुरस्कार-** जो मुनि मनुष्यों के द्वारा दिये गये आदर से आकर्षित नहीं होता और अनादर से व्याकुल नहीं होता है उसने सत्कार-पुरस्कार परीषह जीत लिया है। **प्रज्ञा-** जो मुनि ज्ञान के अहंकार से प्रभावित नहीं होता है वह प्रज्ञा परीषह को जीतनेवाला होता है। **अज्ञान-** जो मुनि ज्ञान प्राप्त करने के लिए अथक परिश्रम करके भी सफल नहीं होता यदि वह निराशा में नहीं डूबता है तो उसने अज्ञान परीषह को जीत लिया है। **अदर्शन-** जिस मुनि को वर्षों तक तप करने के पश्चात् भी कोई लाभ नहीं होता तो भी उसकी श्रद्धा नहीं डिगती, वह अदर्शन परीषह को जीतनेवाला होता है।

परीषह और तप में भेद

(1) परीषह मुनि की इच्छा के विरुद्ध उत्पन्न होते हैं जो उनको सहन करते हैं या आध्यात्मिक विजय के साधन के रूप में उनका उपयोग करते हैं, जब कि तप मुनि की इच्छा के अनुरूप आध्यात्मिक विकास के लिए किये जाते हैं। (2) साधारण दृष्टि से विचारें तो अधिकांश परीषह दुष्ट मनुष्यों, कठोर प्रकृति और ईर्ष्यालु देवताओं

द्वारा उत्पन्न किये जा सकते हैं किन्तु तप साधक के दृढ़ निश्चय को दर्शाते हैं। फिर, यदि परीषहों का मूल्य धैर्यपूर्वक सहने में है तो तपों का मूल्य उनका पालन करने में है। (3) जो परीषह आध्यात्मिक जीवन में बाधा के रूप में होते हैं, वे साधक के जीवन के अस्थायी पक्ष हैं जब कि तप दुःखी जीवन से मुक्ति के लिए प्रस्तावित अनुशासन के रूप में अनिवार्य होते हैं। (4) तपों का करना परीषहों को समतापूर्वक सहने के लिए शक्ति प्रदान करना है।

तप का स्वरूप और प्रकार

तप का अर्थ है- इच्छाओं का निरोध। षट्खण्डागम का कथन है- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी तीन रत्नों की प्राप्ति के लिए इच्छाओं का उन्मूलन तप कहा जाता है।¹⁵⁰ इस प्रकार जैन दृष्टिकोण से आत्मा की स्वतन्त्रता, शान्ति और साम्य की प्राप्ति के लिए सभी इच्छाएँ जो दुःखों का मूल हैं उनका निष्कासन न केवल मुख्य है बल्कि सर्वोपरि है। यह जैन उपदेशों का आधार व शिखर दोनों है। अंतरंग यात्रा की सर्वोच्चता के होते हुए भी जैनधर्म बाह्य शारीरिक तपों की उपेक्षा नहीं करता। जैनधर्म में दो प्रकार के तप उल्लिखित हैं- अर्थात् बाह्य तप और अंतरंग तप।¹⁵¹ पूर्ववर्ती शारीरिक और इन्द्रियगोचर त्याग की मुख्यता पर जोर देता है जब कि परवर्ती मन के अंतरंग नियंत्रण

150. षट्खण्डागम, भाग-13, पृष्ठ 55

अनगार धर्माभूत, 8/2

151. उत्तराध्ययन, 30/7

सर्वार्थसिद्धि, 9/18

षट्खण्डागम, भाग-13, पृष्ठ 54

अनगार धर्माभूत, 7/6

पर जोर देता है।¹⁵² इसके अतिरिक्त बाह्य तप इसलिए भी बाह्य तप कहे जाते हैं कि वे उनके द्वारा भी पालन किए जाते हैं जो सम्यग्दृष्टि नहीं हैं।¹⁵³ हम सर्वप्रथम बाह्य तपों के बारे में विचार करेंगे।

बाह्य तप

बाह्य तप छह प्रकार के होते हैं- (1) अनशन, (2) अवमौदर्य, (3) वृत्तिपरिसंख्यान, (4) रसपरित्याग, (5) विविक्तशय्यासन और (6) कायक्लेश।¹⁵⁴ (1) अनशन- उपवास या सीमित समय के लिए या शरीर से आत्मा के पृथक्करण होने तक भोजन का संयम अनशन कहलाता है।¹⁵⁵ इसका पालन आत्मनियंत्रण के लिए, आसक्ति को नष्ट करने के लिए, कर्मों के विनाश के लिए, ध्यान का पालन करने के लिए और आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए किया जाता है।¹⁵⁶ यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि अनशन में भोजन और उसके प्रति आसक्ति का त्याग एक साथ किया जाना अपेक्षित है। केवल शरीर को क्षीण करना उपवास का उद्देश्य नहीं होता है।¹⁵⁷ (2) अवमौदर्य- पूरा भोजन नहीं

152. सर्वार्थसिद्धि, 9/19

153. षट्खण्डागम, भाग-13, पृष्ठ 59

अनगार धर्मावृत, 7/6

154. तत्त्वार्थसूत्र, 9/19

भगवती आराधना, 208

मूलाचार, 346

155. मूलाचार, 347

उत्तराध्ययन, 30/9

भगवती आराधना, 209

156. सर्वार्थसिद्धि, 9/19

157. षट्खण्डागम, भाग-8, पृष्ठ 55

करना अवमौदर्य तप है। भोजन में बत्तीस ग्रास की मात्रा¹⁵⁸ पुरुष के लिए और अट्ठईस ग्रास की मात्रा महिला के लिए उल्लिखित है, इसमें एक ग्रास की कमी भी करना इस तप के अन्तर्गत सम्मिलित है।¹⁵⁹ इस तप का पालन इन्द्रिय और नींद के संयम के लिए, षट् आवश्यकों और स्वाध्याय आदि को सफलतापूर्वक करने के लिए किया जाता है।¹⁶⁰

(3) वृत्तिपरिसंख्यान- जब मुनि आहार प्राप्त करने के लिए विचरता है, तो घरों में जाने की संख्या के विषय में, भोजन ग्रहण करने की विशिष्ट रीति के बारे में, विशेष प्रकार के भोजन के विषय में, देनेवाले की योग्यता के बारे में मुनि का संकल्प होना वृत्तिपरिसंख्यान कहलाता है।¹⁶¹ दूसरे शब्दों में, उपर्युक्त विषयों में मुनि पूर्व निर्णय करते हैं; यदि चीजें उनके पूर्व निर्णय के अनुसार घटित होती है तो भोजन ग्रहण कर

158. अनगार धर्माभृत, 7/22

षट्खण्डागम, भाग-13, पृष्ठ 56

159. मूलाचार, 350

भगवती आराधना, 211, 212

अनगार धर्माभृत, 7/22

उत्तराध्ययन, 30/15

षट्खण्डागम, भाग-13, पृष्ठ 56

160. मूलाचार, 351

अनगार धर्माभृत, 7/22

161. मूलाचार, 355

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 443

अनगार धर्माभृत, 7/26

भगवती आराधना, 218, 219, 220, 221

षट्खण्डागम, भाग-13, पृष्ठ 57

(42) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

लेते हैं अन्यथा वे उस दिन बिना भोजन ग्रहण किये रहते हैं।¹⁶² (4) **रसपरित्याग**— भोजन की छह वस्तुओं जैसे— दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और नमक में से एक का या अधिक का त्याग करना रसपरित्याग है और स्वादों जैसे खट्टा (अम्ल), मीठा (मधुर), कड़वा (कटु), कसैला (कषाय), और तीखा (तिक्त) में से एक या अधिक का त्याग करना भी रसपरित्याग है।¹⁶³ यह दोनों प्रकार का त्याग इन्द्रियों के संयम के लिए, निद्रा को जीतने के लिए और अबाधित रूप से स्वाध्याय करने के लिए किया जाता है।¹⁶⁴ (5) **विविक्तशय्यासन**— ऐसे एकान्त स्थान का चयन जो अनैतिक लोगों के आने-जाने से रहित हो और जो ध्यान, स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य के लिए उपयुक्त हो और जो राग-द्वेष का कारण न बन सके।¹⁶⁵ (6) **कायक्लेश**— कठोर आसनों द्वारा

162. सर्वार्थसिद्धि, 9/19

163. मूलाचार, 352

उत्तराध्ययन, 30/26

भगवती आराधना, 215

षट्खण्डागम, भाग-13, पृष्ठ 57

164. सर्वार्थसिद्धि, 9/19

165. सर्वार्थसिद्धि, 9/19

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 445, 447

आचारसार, 6/15, 16

मूलाचार, 357

भगवती आराधना, 228

षट्खण्डागम, भाग-13, पृष्ठ 58

शरीर को कष्ट की आदत में रखना कायक्लेश है।¹⁶⁶ इसका उद्देश्य है शारीरिक कष्टों को सहन करने का अभ्यास रखना और सुखों के प्रति आसक्ति को कम करना।¹⁶⁷

हमने बाह्य तपों के स्वरूप की व्याख्या की है और हमने यह देखा है कि इन तपों को करने का उद्देश्य शारीरिक त्याग ही नहीं है किन्तु इन्द्रियों और शरीर के प्रति आसक्ति को नष्ट करना है। दूसरे शब्दों में बाह्य तपस्या उसी समय न्यायसंगत कही जा सकती है जब यह मुनि को आन्तरिक विकास की ओर ले जाये, वरना उसके अभाव में सारा प्रयास व्यर्थ ही चला जायेगा। मूलाचार का कथन है कि बाह्य तप से मानसिक अशान्ति उत्पन्न नहीं होनी चाहिए और नैतिक और आध्यात्मिक अनुशासन पालन के उत्साह को कम नहीं होने देना चाहिए लेकिन आध्यात्मिक धारणाओं को बढ़ावा मिलना चाहिए।¹⁶⁸ यह व्याख्या बाह्य त्याग की आन्तरिक प्रवृत्ति को प्रकाशित करती है और केवल शारीरिक कष्ट देने की निन्दा करती है। समन्तभद्र का कथन है कि बाह्य तप आध्यात्मिक तपस्या को उत्पन्न करता है और इस तरह जैनधर्म तपों

166. मूलाचार, 356

सर्वार्थसिद्धि, 9/19

उत्तराध्ययन, 30/27

आचारसार, 6/19

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 448

षट्खण्डागम, भाग-13, पृष्ठ 58

भगवती आराधना, 222-227

167. सर्वार्थसिद्धि, 9/19

168. मूलाचार, 358

भगवती आराधना, 236

के अंतरंग पक्ष पर भी जोर देता है।¹⁶⁹ बाह्य तपों को न्यायसंगत बताने के पश्चात् अब हम आन्तरिक तपों के स्वरूप पर विचार करेंगे।

अंतरंग तप

अंतरंग तप भी छह प्रकार के होते हैं- अर्थात् (1) प्रायश्चित्त, (2) विनय, (3) वैयावृत्य, (4) स्वाध्याय, (5) व्युत्सर्ग और (6) ध्यान।¹⁷⁰ (1) प्रायश्चित्त- वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मुनि अपने किये हुए दोषों से मुक्त होता है वह प्रायश्चित्त कहलाती है।¹⁷¹ कार्तिकेय के अनुसार वास्तविक प्रायश्चित्त वह है जिसमें किये गए दोषों की पुनरावृत्ति नहीं होती है चाहे शरीर को कितना ही कष्ट दिया जाए।¹⁷² (2) विनय- इन्द्रियों का संयम या कषायों का उन्मूलन या तीन रत्नों को प्राप्त व्यक्तियों के प्रति नम्रता का भाव होना विनय है।¹⁷³ विनय के अभाव में आगम का अध्ययन व्यर्थ जाता है। विनय का बाह्य परिणाम

169. स्वयंभूस्तोत्र, 83

170. तत्त्वार्थसूत्र, 9/20

मूलाचार, 360

उत्तराध्ययन, 30/30

आचारसार, 6/21

171. सर्वार्थसिद्धि, 9/20

मूलाचार, 361

षट्खण्डागम, भाग-13, पृष्ठ 59

172. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 452

173. षट्खण्डागम, भाग-13, पृष्ठ 63

आचारसार, 6/69

अनगार धर्माभूत, 7/60

उत्तराध्ययन, 30/32

है- सम्मान, मैत्री, आदर, गुरु का प्रसाद, जिनदेव की आज्ञा का पालन और दुष्ट विचारों का विनाश। जब कि विनय का अंतरंग परिणाम है- आत्मसंयम, ज्ञान की प्राप्ति, आत्मा की शुद्धता, कृतज्ञता का भाव, सरलता, दूसरे मनुष्यों के गुणों की प्रशंसा, अहंकार का नाश और अंत में मोक्ष की प्राप्ति।¹⁷⁴ (3) **वैयावृत्य**- जब मुनि रोग, परीषह और मिथ्यात्व से ग्रसित हो जाते हैं उस समय मुनियों की सेवा दवा या उपदेश से की जाती है वह वैयावृत्य कहलाती है।¹⁷⁵ इस तपस्या का उद्देश्य आध्यात्मिक मार्ग के प्रति अनुराग का भाव प्रकट करना है।¹⁷⁶ (4) **स्वाध्याय**- स्वाध्याय का वर्णन 'जैन आचार का रहस्यात्मक महत्त्व' नामक अगले अध्याय में किया जायेगा। (5) **व्युत्सर्ग**- बाह्य और अंतरंग परिग्रह का त्याग व्युत्सर्ग है।¹⁷⁷ पूर्ववर्ती के अन्तर्गत चेतन और अचेतन परिग्रह का त्याग है और परवर्ती के अन्तर्गत कषायों का त्याग है।¹⁷⁸ (6) **ध्यान**- पाँच प्रकार के अंतरंग तपों का वर्णन करने के पश्चात् अब हम ध्यान के स्वरूप और उसके प्रकारों के बारे में विचार करेंगे।

ध्यान का सामान्य स्वरूप और उसके प्रकार

यह कहना अनुचित नहीं होगा कि सभी अनुशासनात्मक

174. मूलाचार, 386-388

भगवती आराधना, 129-131

175. मूलाचार, 391, 392

सर्वार्थसिद्धि, 9/24

176. सर्वार्थसिद्धि, 9/24

177. मूलाचार, 406

सर्वार्थसिद्धि, 9/26

178. मूलाचार, 407

क्रियाएँ ध्यान की पृष्ठभूमि का निर्माण करती हैं। जैसे पानी का संग्रहण जो अनाज के खेत को सींचने के लिए काम आता है, उसको पीने और दूसरे उद्देश्यों के लिए भी काम में लिया जा सकता है, उसी तरह अनुशासनात्मक गुप्ति, समिति आदि क्रियाएँ जो नये कर्मों के आस्रव की समाप्ति के लिए की जाती हैं, वे ध्यान की पृष्ठभूमि का निर्माण करने के लिए भी कही जा सकती हैं।¹⁷⁹ दूसरे शब्दों में सभी अनुशासनात्मक क्रियाओं का पालन ध्यान की पराकाष्ठा में समाप्त होता है। इस प्रकार ध्यान सम्यक्चारित्र का अनिवार्य संघटक है। परिणामस्वरूप यह दिव्य अन्तःशक्तियों के प्रकटीकरण के लिए सीधे रूप से संबंधित है और यह ही अकेला मार्ग है जिस पर चलकर साधक उच्चतम आदर्श की ओर सीधा जा सकता है।

ध्यान एक विशेष वस्तु पर मन की एकाग्रता को बताता है जो एकाग्रता अधिक से अधिक एक अन्तर्मुहूर्त (48 मिनट से कम समय) के लिए संभव है और वह भी उन व्यक्तियों के लिए जिनका शरीर सर्वोत्तम होता है।¹⁸⁰ दूसरे शब्दों में किसी एक वस्तु पर विचारों की स्थिरता ध्यान कहा जाता है। एकाग्रता की वस्तु अपवित्र हो सकती है या पवित्र भी। मन या तो निम्नकोटि की वस्तु पर एकाग्र हो सकता है या उन्नत वस्तु पर एकाग्र हो सकता है। पूर्ववर्ती जो अशुभ कर्मों के आस्रव का कारण है अशुभ ध्यान (अप्रशस्त ध्यान) के नाम से कहा जाता है। जब कि परवर्ती जो कर्मों के निराकरण से संबंधित होता है शुभ ध्यान (प्रशस्त ध्यान) कहा जाता है।¹⁸¹ संक्षेप में, ध्यान या तो

179. राजवार्तिक, 9/27/26

180. राजवार्तिक, 9/27/10-15

181. सर्वार्थसिद्धि, 9/28

दैदीप्यमान रत्नों को हमें प्रदान करने में समर्थ होता है या काँच के टुकड़ों को देने में। जब दोनों वस्तुएँ संभव होती हैं तो विवेकपूर्ण व्यक्ति इन दोनों में से किसको चुनेगा?¹⁸²

इस तरह से ध्यान दो प्रकार का होता है- प्रशस्त और अप्रशस्त। पूर्ववर्ती के अन्तर्गत दो प्रकार का ध्यान है- धर्मध्यान और शुक्लध्यान। परवर्ती में भी दो प्रकार का ध्यान है- आर्तध्यान और रौद्रध्यान।¹⁸³ प्रशस्त ध्यान साधक को मोक्ष की ओर ले जाने में समर्थ है।¹⁸⁴ इसके विपरीत अप्रशस्त ध्यान सांसारिक दुःखों की ओर ले जाता है।¹⁸⁵ इस प्रकार जो मोक्ष के लिए इच्छुक हैं उनको आर्तध्यान और रौद्रध्यान त्याग देना चाहिए।¹⁸⁶ तप के रूप में ध्यान का संबंध प्रशस्त प्रकार के ध्यान से है क्योंकि वह ही अकेला है जो शुद्ध जीवन से संबंध जोड़ता है। अब हम सर्वप्रथम अप्रशस्त ध्यान के स्वरूप पर विचार करेंगे। प्रशस्त ध्यान तप का स्वीकारात्मक पक्ष है और अप्रशस्त ध्यान निषेधात्मक पक्ष है।

आर्तध्यान

आर्त का अर्थ है- दुःख और वेदना और उससे उत्पन्न विचारों का चिन्तन करना।¹⁸⁷ इस दुःखपूर्ण संसार में अनन्त वस्तुएँ हैं जो

182. इष्टोपदेश, 20

183. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 469

तत्त्वार्थसूत्र, 9/28

184. तत्त्वार्थसूत्र, 9/29

185. सर्वार्थसिद्धि, 9/29

186. तत्त्वानुशासन, 34, 220

187. सर्वार्थसिद्धि, 9/28

सांसारिक जीवों में दुःख उत्पन्न कर सकती हैं फिर भी हमारी सीमित बुद्धि से उनको अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। अतः चार प्रकार के आर्तध्यान स्वीकार किये जाते हैं-¹⁸⁸ अनिष्टसंयोगज, इष्टवियोगज, वेदनाजनित और निदानजनित (1) अनिष्टसंयोगज- अनिष्टकारी वस्तुओं का संयोग हो जाने पर उस अनिष्ट को दूर करने के लिए निरन्तर चिन्ता करना अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान है।¹⁸⁹ (2) इष्टवियोगज- इष्ट वस्तुओं का वियोग हो जाने पर उनकी प्राप्ति के लिए अनवरत चिन्ताग्रस्त होना इष्टवियोगज आर्तध्यान है।¹⁹⁰ (3) वेदनाजनित- शरीर में रोग हो जाने पर उसको दूर करने के लिए निरन्तर चिन्तित रहना वेदनाजनित आर्तध्यान है।¹⁹¹ (4) निदानजनित- इष्ट सुखों को प्राप्त करने की इच्छा करना, दुश्मन को हराने की योजना बनाना और इन्द्रियजन्य भोगों को प्राप्त करने के लिए चिन्तन करते रहना निदानजनित आर्तध्यान है।¹⁹² आर्तध्यान संसारी जीवों में अनादिकाल से स्थित

188. ज्ञानार्णव, 25/37

तत्त्वार्थसूत्र, 9/30, 31, 32, 33

189. तत्त्वार्थसूत्र, 9/30

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 471

ज्ञानार्णव, 25/28

190. तत्त्वार्थसूत्र, 9/31

ज्ञानार्णव, 25/31

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 472

191. तत्त्वार्थसूत्र, 9/32

ज्ञानार्णव, 25/32

192. ज्ञानार्णव, 25/36

सर्वार्थसिद्धि, 9/33

दूषित प्रवृत्तियों के कारण स्वाभाविक रूप से विद्यमान होता है।¹⁹³ यह ध्यान मिथ्यादृष्टि में, सम्यग्दृष्टि में और अणुव्रतधारी व्यक्तियों में उपस्थित रहता है। जैसे गृहस्थ एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से बच नहीं सकता उसी प्रकार वह आर्तध्यान को भी नहीं हटा सकता। निःसन्देह वह इसको कम से कम कर सकता है किन्तु पूर्णतया दूर नहीं कर सकता है।

रौद्रध्यान

रौद्रध्यान भी चार प्रकार का होता है- हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और विषयानन्द। (1) हिंसानन्द- प्राणियों को मारने में हर्ष मनाना, दूसरों की बुराई सोचना, दूसरों के गुणों व संपत्ति के प्रति जलन अनुभव करना, हिंसा के उपकरण एकत्रित करना, निर्दयी मनुष्यों के प्रांत दया दिखाना, बदले को भावना रखना, युद्ध में हार व जीत के विषय में सोचना - ये सब हिंसानन्द रौद्रध्यान के अन्तर्गत आते हैं।¹⁹⁴

(2) मृषानन्द- व्यक्ति जिसका मन असत्य से भरा हुआ है, जो जगत को दुष्ट सिद्धान्तों के प्रचार के द्वारा दुःखों में फँसाना चाहता है और अपने सुख के लिए विकृत साहित्य लिखता है और जो छल-कपट से धन इकट्ठा करता है, जो निर्दोष लोगों में दोष दिखाने की योजना बनाता है जिससे राजा उसे दण्ड दे सके, जो सरल व अज्ञानी लोगों को कपटपूर्वक भाषा से धोखा देने में सुख मनाता है वह मृषानन्द रौद्रध्यान से ग्रसित होता है।¹⁹⁵ (3) चौर्यानन्द- जो चोरी में दक्षता और उत्साह

193. ज्ञानार्णव, 25/41

194. ज्ञानार्णव, 26/4, 9, 10, 11, 13, 15

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 473

195. ज्ञानार्णव, 26/16, 17, 18, 20, 22

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 473

दिखाता है, चोरी का शिक्षण देता है वह चौर्यानन्द रौद्रध्यान कहा जाता है।¹⁹⁶ (4) विषयानन्द- अपने परिग्रह और इन्द्रिय सुखों को बचाने का प्रयत्न करना विषयानन्द रौद्रध्यान है।¹⁹⁷ यह ध्यान अणुव्रतधारियों में कुछ हद तक होता है।¹⁹⁸ मुनि के जीवन में यह ध्यान बिलकुल भी नहीं होता है।¹⁹⁹ यह ध्यान बिना शिक्षण के ही उत्पन्न होता है और यह तीव्र कषाय का परिणाम है।²⁰⁰

प्रशस्तध्यान की पूर्व आवश्यकताएँ

प्रशस्तध्यान मोक्ष के लिए सहायक है। सामान्यरूप से साधक के लिए ध्यान की पूर्व आवश्यकताएँ निम्नलिखित हैं- मोक्ष की उत्कट इच्छा, सांसारिक वस्तुओं में अनासक्ति, शान्त और निराकुल चित्त, आत्मसंयम, स्थिरता, इन्द्रियसंयम, धैर्य और सहनशीलता। इसके अतिरिक्त साधक को समय, स्थान, और मानसिक संतुलन की प्राप्ति का ध्यान रखना चाहिए। इसके साथ ही मैत्री (सभी प्राणियों के प्रति मित्रता), प्रमोद (दूसरों के गुणों की प्रशंसा), करुणा (अनुकम्पा और सहानुभूति) और माध्यस्थ (उच्छृंखल के प्रति उदासीनता) भावों का अभ्यास करना चाहिए। साधक को उन स्थानों को छोड़ना चाहिए जहाँ

196. ज्ञानार्णव, 26/24

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 474

197. ज्ञानार्णव, 21/29

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 474

198. तत्त्वार्थसूत्र, 9/35

199. सर्वार्थसिद्धि, 9/35

200. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 469

ज्ञानार्णव, 26/43

राजवार्तिक, 9/35/4

दुष्ट, जुआरी, मद्यासक्त आदि का आना-जाना हो और वे स्थान भी जो दूसरे प्रकार से बाधा उत्पन्न करनेवाले हों। उसको उन स्थानों का चयन करना चाहिए जिनका संबंध तीर्थकरों और मुनियों के नाम से संबंधित हो। साधक को नदी का किनारा, पर्वत का शिखर, गुफा और एकान्त में दूसरे स्थान ध्यान के लिए चुनने चाहिए। आसन के दृष्टिकोण से विशेषकर पद्मासन और खड़गासन उपयुक्त माने गए हैं। उसके लिए प्रत्येक आसन, प्रत्येक स्थान और प्रत्येक समय ध्यान के लिए उपयुक्त होता है जिसने मन को संयमित कर लिया है, जो अनासक्त है और धीर है,²⁰¹ जो चेतन और अचेतन, सुखदायी और दुःखदायी विषयों से विचलित नहीं होता है। इसका परिणाम यह है उसकी इच्छाएँ समाप्त हो जाती है, अज्ञान लुप्त हो जाता है और चित्त शान्त हो जाता है। इस प्रकार मानसिक संतुलन ध्यान की पूर्व आवश्यकता है।

प्रशस्त ध्यान दो प्रकार का होता है- धर्मध्यान और शुक्लध्यान। सर्वप्रथम हम धर्मध्यान पर विचार करेंगे।

धर्मध्यान

धर्मध्यान का अर्थ है- शुभ विचारणा या चिंतन।²⁰² इसके चार भेद हैं- आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय।²⁰³

(1) आज्ञाविचय (आगमानुसार तत्त्व का चिंतन या समर्थन)-
“उपदेश देनेवाले का अभाव होने से, स्वयं के मन्दबुद्धि होने से, पदार्थों के सूक्ष्म होने से तथा तत्त्व के समर्थन में हेतु और दृष्टान्त का अभाव होने से सर्वज्ञ-प्रणीत आगम को प्रमाण करके ‘यही इसी प्रकार है’

201. ज्ञानार्णव, 6/6, 27/3

202. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 476

203. तत्त्वार्थसूत्र, 9/36

क्योंकि जिनदेव अन्यथावादी नहीं होते। इस प्रकार गहन पदार्थों के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।²⁰⁴ इसके अतिरिक्त जो स्वयं पदार्थों के रहस्य को जानता है और दूसरों के प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है इसलिए स्व सिद्धान्त के समर्थन करने के लिए जो तर्क, नय और प्रमाण का सहारा लिया जाता है वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करनेवाला होने से आज्ञाविचय धर्मध्यान कहा जाता है।²⁰⁵ इस धर्मध्यान का उद्देश्य है वस्तुओं के तात्त्विक स्वभाव के संबंध में बौद्धिक स्पष्टता का होना। (2) अपायविचय (विकारों के विनाश का चिंतन)- मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र²⁰⁶ से उत्पन्न दुःखों से संसारी जीवों को छुड़ाने के लिए उपयुक्त साधनों का चिंतन करना²⁰⁷ अपायविचय धर्मध्यान है। “मिथ्यादृष्टि जीव जन्मांध पुरुष के समान सर्वज्ञ-प्रणीत मार्ग से विमुख होते हैं, उन्हें सन्मार्ग का ज्ञान न होने से वे मोक्षार्थी पुरुषों को दूर से ही त्याग देते हैं- इस प्रकार सन्मार्ग के उपाय का चिंतन करना अपायविचय धर्मध्यान है।” इसके अतिरिक्त ज्ञानार्णव के अनुसार साधक को यह सोचना चाहिये कि “मैं कौन हूँ? कर्मों का आस्रव और बंध क्यों होता है? कर्म कैसे नष्ट किये जा सकते हैं? मोक्ष क्या है? मोक्षप्राप्ति पर आत्मा का स्वभाव क्या होता है?”²⁰⁸ यदि आज्ञाविचय सत्य में स्थापित करता है तो अपायविचय सत्य की अनुभूति के लिए विकारों के विनाश पर चिंतन करता है। (3) विपाकविचय (कर्मों के स्वरूप की विचारणा)-

204. सर्वार्थसिद्धि, 9/36

205. सर्वार्थसिद्धि, 9/36

206. सर्वार्थसिद्धि, 9/36

207. मूलाचार, 400

208. ज्ञानार्णव, 34/11

जीवों के कर्मों के फल पर चिंतन करना विपाकविचय धर्मध्यान है।²⁰⁹

(4) संस्थानविचय (लोक के स्वभाव का चिंतन)- लोक के स्वभाव, विस्तार और उसके घटकों की विभिन्नता पर चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है।²¹⁰ इस धर्मध्यान से साधक लोक में अपनी स्थिति अनुभव कर लेता है। कार्तिकेय के द्वारा धर्मध्यान की पारम्परिक व्याख्या में नवीन दृष्टि जोड़ी गयी जिसके अनुसार सब प्रकार के विचारों को छोड़कर आत्मा पर ध्यान करना धर्मध्यान है।²¹¹

शुक्लध्यान

शुक्लध्यान का फल है- मन का मोहरहित होना और केवलज्ञान प्राप्त करके आत्मप्रदेशों को परिस्पन्दन-रहित करना। इसके चार भेद हैं-²¹² पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति। प्रथम दो शुक्लध्यान केवलज्ञान होने तक होते हैं अर्थात् जीवनमुक्त होने तक होते हैं और अंतिम दो केवली (सयोगकेवली और अयोगकेवली) के होते हैं।²¹³ इन ध्यानों का संबंध योगों से है, प्रथम का संबंध तीन योग से, द्वितीय का संबंध एक योग से, तृतीय का संबंध काय योग से और चतुर्थ का संबंध अयोग से होता है। तीन योगवाले के पृथक्त्ववितर्क ध्यान होता है, तीन योगों में से एक योगवाले के एकत्ववितर्क ध्यान होता है, काय योगवाले के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान होता है और अयोगी के व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान होता है।²¹⁴

209. सर्वार्थसिद्धि, 9/36

मूलाचार, 401

210. सर्वार्थसिद्धि, 9/36

211. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 480

212. तत्त्वार्थसूत्र, 9/39

213. ज्ञानार्णव, 52/7, 8

214. सर्वार्थसिद्धि, 9/40

(54) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

(1) **पृथक्त्ववितर्क-** इसका संबंध पृथक्त्व, वितर्क और वीचार से होता है, अर्थात् अनेकता (पृथक्त्व), श्रुतवचन (वितर्क) और तीन योग और इनमें परिवर्तन (वीचार)। इसका अभिप्राय यह है कि एक द्रव्य से पर्याय पर या पर्याय से द्रव्य पर, एक वचन से दूसरे वचन पर और एक योग से दूसरे योग पर परिवर्तन का होना वीचार है।²¹⁵ द्रव्य को छोड़कर पर्याय में और पर्याय को छोड़कर द्रव्य में परिवर्तन होना द्रव्य पर्याय परिवर्तन है। साधक एक श्रुतवचन का आलंबन लेकर दूसरे वचन का आलंबन लेता है और उसे भी त्यागकर अन्य वचन का आलंबन लेता है- यह वचनपरिवर्तन है। वह काययोग को छोड़कर दूसरे योग को स्वीकार करता है और दूसरे योग को छोड़कर वह काययोग को स्वीकार करता है- यह योगपरिवर्तन है। इस प्रकार के परिवर्तन को वीचार कहते हैं। इस कारण पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान को पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान भी कहते हैं। (2) **एकत्ववितर्क-** इसमें एक योग से दूसरे योग में परिवर्तन नहीं होता है। अनेकता एकता में बदल जाती है अर्थात् साधक एक द्रव्य, एक पर्याय, वचन पर किसी एक योग की सहायता से ध्यान करता है, कोई परिवर्तन नहीं होता है।²¹⁶ इस कारण एकत्ववितर्क शुक्लध्यान को एकत्ववितर्कअवीचार शुक्लध्यान भी कहते हैं। इस तरह से पहला शुक्लध्यान सवितर्क (वचन-सहित) और सवीचार (परिवर्तन-सहित) होता है और दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क (वचन-सहित) और अवीचार (परिवर्तन-रहित) होता है। इस प्रकार एकत्ववितर्क शुक्लध्यान के द्वारा जिसने कर्मरूपी ईंधन को जला दिया है उसके

215. तत्त्वार्थसूत्र, 9/44

216. ज्ञानार्णव, 52/29

केवलज्ञान प्रकाशित हो जाता है।²¹⁷ (3) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति- जब आयु में अर्न्तमुहूर्त काल शेष रहता है तब सब प्रकार के वचनयोग और मनोयोग त्यागकर सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन लेकर ध्यान किया जाता है वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान कहलाता है।²¹⁸ दूसरे शब्दों में, मन-वचन के योग अवरुद्ध हो जाते हैं और केवल सूक्ष्म काययोग रहता है।²¹⁹ (4) व्युपरतक्रियानिवर्ति- जब सब प्रकार की क्रियाएँ रुक जाती हैं और निष्क्रिय अवस्था उत्पन्न होती है, तो इस ध्यान को व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यान कहते हैं। पूज्यपाद²²⁰ इसको समुच्छन्नक्रियानिवर्ति ध्यान कहते हैं। इसमें क्रिया का उच्छेद हो जाता है, फलस्वरूप आत्मप्रदेश का परिस्पन्दन भी समाप्त हो जाता है। इसमें सूक्ष्म काययोग भी समाप्त हो जाता है और आत्मा मन-वचन और काय की क्रियाओं से मुक्त हो जाता है और वह उचित समय में विदेहमुक्ति प्राप्त कर लेता है। यहाँ सब प्रकार का आत्मपरिस्पंदन समाप्त हो जाता है और आत्मा सर्वथा निष्प्रकंप हो जाता है।²²¹
(व्युपरत का अर्थ है- जो रुक गया हो और निवर्ति का अर्थ है- निष्क्रिय अवस्था)।

मुनि के आध्यात्मिक मरण के प्रकार

पाँच प्रकार के मरण में से मुनि पंडित-मरण के योग्य होता है। जिसके तीन भेद हैं- भक्तप्रतिज्ञा-मरण, इंगिनी-मरण और प्रायोपगमन-मरण।²²² केवल वह मुनि जिसके असाध्य रोग है, असहनीय वृद्धावस्था

217. सर्वार्थसिद्धि, 9/44

218. सर्वार्थसिद्धि, 9/44

219. सर्वार्थसिद्धि, 9/44

220. सर्वार्थसिद्धि, 9/44

221. सर्वार्थसिद्धि, 9/44

222. भगवती आराधना, 29

है, स्थानीय अकाल है, सुनने और देखने में कमजोरी है, पैरों में अशक्तता है और कई अपरिहार्य कष्ट आदि हैं उस मुनि को उपर्युक्त मरणों में से कोई भी मरण ग्रहण करने की स्वीकृति है।²²³ जो मुनि चारित्र का पालन करने में समर्थ है उसको इस प्रकार के मरण ग्रहण नहीं करने चाहिए।²²⁴ अब हम भक्तप्रतिज्ञा-मरण का वर्णन करेंगे।

(i) भक्तप्रतिज्ञा-मरण

उपर्युक्त अभिव्यक्त की गयी परिस्थितियों में तथा प्राकृतिक मृत्यु की निश्चितता (अधिक से अधिक 12 वर्ष में²²⁵ या कम से कम 6 महीने में) जान ली गयी है तो मुनि भक्तप्रतिज्ञा-मरण अपनाता है। पहले तो मुनि किसी योग्य आचार्य के निर्देशन में अंतरंग व बाह्य त्याग की प्रक्रिया अपनाता है।²²⁶ अंतरंग त्याग का संबंध है- क्रोध आदि कषायों के नष्ट करने से और बाह्य त्याग का संबंध है- शरीर को दुर्बल करने से।²²⁷ मुनि सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग कर देता है सिवाय पीछी कंमंडलु के। बाह्य और अंतरंग शुद्धता प्राप्त करता है और तप, ज्ञान, निर्भयता, एकान्त और धैर्य पर चिन्तन करता है।²²⁸ वह शक्ति बढ़ानेवाले रसों को छोड़कर केवल सादा भोजन लेता है और छह प्रकार के बाह्य तपों का पालन करता है। मुनि अपने शरीर को शनैः-शनैः

223. भगवती आराधना, 71-74

224. भगवती आराधना, 75

225. भगवती आराधना, 252

उत्तराध्ययन, 36/250

226. भगवती आराधना, 159, 205

227. भगवती आराधना, 206

228. भगवती आराधना, 162-167, 187

कमजोर करता है। यद्यपि वह सावधानी रखता है कि उसकी अंतरंग शान्ति में बाधा न आये²²⁹ शरीर को कमजोर करने की सभी प्रकार की विधियों में से दो दिन का उपवास, तीन दिन का या पाँच दिन का उपवास और फिर हलका भोजन करना प्रशंसनीय माना गया है।²³⁰ इसके साथ ही मुनि के लिए आवश्यक है कि वह क्षमा से क्रोध को, विनय से मान को, निष्कपटता से मायाचार को और संतोष से लोभ को दूर करे।²³¹ उसी प्रकार हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, कामुक प्रवृत्तियाँ और आहार, भय, कामवासना और परिग्रह, तीन अशुभ लेश्याएँ अर्थात् कृष्ण, नील और कापोत तथा अलौकिक शक्तियों के प्रति आसक्ति- उन सबको हटा देना चाहिए।²³² यह सम्पूर्ण प्रक्रिया सतत जारी रहती है जब तक शरीर से आत्मा पृथक् नहीं हो जाता है। आचार्यों के द्वारा मुनि आध्यात्मिक वातावरण में रखा जाता है जिससे मृत्यु के समय भाव न बिगड़ जाये।

(ii) इंगिनी-मरण

इंगिनी-मरण का पालन करना भक्तप्रतिज्ञा-मरण से ज्यादा कठिन है। यह उन मुनियों के लिए है जिनके पास उत्तम शरीर है। वह ऐसे स्थान पर जाता है जो प्राणियों से रहित हो, सूर्य की रोशनी से प्रकाशित हो और वहाँ छिद्र आदि न हो। वहाँ वह प्राणियों से रहित घास के बिछौने पर लेट जाता है या बैठ जाता है या खड़ा रहता है।²³³ जब वह अपने मन में से द्वेष विचार निकाल देता है और दर्शन, ज्ञान और

229. भगवती आराधना, 207, 208, 246-248

230. भगवती आराधना, 250, 251

231. भगवती आराधना, 260

232. भगवती आराधना, 268

233. भगवती आराधना, 2035, 2036, 2041

चारित्र में अपने आपको स्थापित करता है और कई प्रकार के भोजन और परिग्रह को त्याग देता है।²³⁴ वह सब परीषह सहता है और सारे प्रलोभनों को निडरतापूर्वक रोकता है और जंगली जानवरों द्वारा यदि उसका शरीर अशोभनीय स्थानों पर फेंक दिया गया है तो भी वह विचलित नहीं होता है।²³⁵ वह अपने आपको ध्यान में लगाता है, निद्रा को टालता है और आवश्यक नियमों की अवहेलना नहीं करता है।²³⁶ संक्षेप में उसका सारा समय ध्यान में, स्वाध्याय में और शुभ चिंतन में जाता है। उसको दूसरे मुनियों और आचार्य की सेवा की आवश्यकता नहीं होती है। भक्तप्रतिज्ञा-मरण में मुनि अपनी सेवा करता है और दूसरों से करवाता है किन्तु इंगिनी-मरण में वह दूसरों की सेवा अस्वीकार कर देता है लेकिन प्रायोपगमन-मरण में न तो वह अपनी सेवा करता है और न दूसरों की सेवा स्वीकार करता है।²³⁷

(iii) प्रायोपगमन-मरण

प्रायोपगमन-मरण में मुनि को मल-विसर्जन की आवश्यकता नहीं होती है।²³⁸ वह अपने शरीर को एक ही स्थिति में सदैव रखता है।²³⁹ वह घास का बिछौना काम में नहीं लेता है।

234. भगवती आराधना, 2038, 2039

235. भगवती आराधना, 2047-2049

236. भगवती आराधना, 2053-2055

237. भगवती आराधना, 2064

गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 61

238. भगवती आराधना, 2065

239. भगवती आराधना, 2068



छठा अध्याय

जैन आचार का रहस्यात्मक महत्त्व

पूर्व अध्याय का संक्षिप्त विवरण

पूर्व अध्याय में मुनि के आचार के विभिन्न पक्षों की व्याख्या की गयी है। यह कहना न्यायसंगत है कि मुनि का आचार हिंसा को पूर्णतया नकारने के मापदण्ड के अनुरूप है। प्रथम, हमने यह समझाने का प्रयास किया है कि मुनि का अनुशासनात्मक जीवन उन सभी का उन्मूलन कर देता है जो उसकी आध्यात्मिक ज्योति के विकास में बाधक होते हैं। वह उन सभी हानिकारक तत्त्वों को मिटा देता है जो आत्मा की बहुमूल्य ऊर्जा को नष्ट करते हैं और दिव्य गरिमा और सौन्दर्य के प्रकटीकरण को अवरुद्ध करते हैं। द्वितीय, हमने आध्यात्मिक जीवन प्रेरकों के महत्त्व और उनके स्वरूप की व्याख्या की है। हमने अंतरंग और बाह्य अनुशासन की आवश्यकता पर जोर दिया है और अद्वैत मूलगुणों के कठोर पालन के महत्त्व को समझाया है। तृतीय, हमने परीषहों और तपों के स्वभाव का निरूपण किया है और साथ में परीषहजय और तपों के पालन के महत्त्व को समझाया है। अंत में मुनि की सल्लेखना (मृत्यु का आध्यात्मिक स्वागत) की प्रक्रिया को प्रस्तुत किया है।

तत्त्वमीमांसा, आचार और रहस्यवाद

हमने स्पष्ट किया है कि जैनाचार के सिद्धान्त तत्त्वमीमांसा पर आश्रित हैं। अहिंसा की धारणा वस्तुओं के तात्त्विक स्वरूप का तार्किक

परिणाम है। सम्पूर्ण आचारशास्त्र जो गृहस्थ और मुनि के लिए निर्धारित है वह व्यवहार में अहिंसा के रूपान्तरण के लिए प्रतिपादित है, जिसकी पूर्णता रहस्यात्मक अनुभूति में उद्घाटित होती है। इस तरह से आचारशास्त्र के स्रोत का संबंध यदि तत्त्वमीमांसा से घनिष्ठ है तो उसका रहस्यवाद से भी संबंध कम नहीं है। यह बताना अनुपयुक्त नहीं होगा कि आचारशास्त्र तात्त्विक चिंतन और रहस्यात्मक अनुभूति के बीच की कड़ी है। यह तत्त्वज्ञान (Metaphysics) से रहस्यवाद (Mysticism) की ओर मार्ग प्रशस्त करता है। बुद्धि (Intellect) से अन्तर्दृष्टि (Intuition) की ओर यात्रा आचार के माध्यम से सम्पन्न की जाती है। प्रो. रानाडे का कथन इस दृष्टि से बहुत महत्त्व का है- “जिस प्रकार बुद्धि (Intellect), संकल्प (Will) और भाव (Emotion) उच्चतम मनोवैज्ञानिक विकास में एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते उसी प्रकार तत्त्वमीमांसा (Metaphysics), आचार (Ethics) और रहस्यवाद (Mysticism) उच्चतम आध्यात्मिक विकास में एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते हैं।”¹ अब हम रहस्यात्मक जीवन के लिए जैन आचार के महत्त्व को समझाने का प्रयास करेंगे और उसकी आध्यात्मिक क्षेत्र में अन्तःशक्ति को ध्यान में रखते हुए आध्यात्मिक विकास के चौदह गुणस्थानों पर विचार करेंगे, जैसा कि जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

रहस्यवाद का स्वरूप

गुणस्थानों के स्वरूप के बारे में विचार करने से पहले हम रहस्यवाद के स्वरूप पर विचार करेंगे। ऐसा करने से हम जैन आचार की धारणा का उचित मूल्यांकन करने में समर्थ हो सकेंगे। ‘रहस्यवाद’ शब्द

1. Constructive Survey of Upaniṣadic philosophy, P.288

का कोई एक अर्थ नहीं है यद्यपि इसका इतिहास बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका विभिन्न प्रकार से प्रयोग हुआ है और इसकी व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गयी है। 'रहस्यवाद' की विभिन्न अभिव्यक्तियों और व्याख्याओं पर विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है। विभिन्न प्रकार के अर्थ होते हुए भी उनमें भिन्नता से अधिक सामंजस्य है। प्रो. रानाडे का कथन उचित प्रतीत होता है - "विभिन्न युगों और देशों के रहस्यवादी एक दिव्य समाज का निर्माण करते हैं।"² "वहाँ कोई जातिगत, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय पूर्वाग्रह नहीं है। रहस्यवादी अनुभव जो शाश्वत और अनन्त होता है उसका देश व काल से कोई संबंध नहीं है।"³ "रहस्यवाद का ताना-बाना किसी भी तत्त्वज्ञानरूपी धागों से बुना जा सकता है लेकिन रहस्यवादी हमेशा शब्दों से परे जाते हैं और एकता का अनुभव करते हैं।"⁴

जैनधर्म में 'रहस्यवाद' का समानार्थक शब्द 'शुद्धोपयोग' है। कुन्दकुन्द के अनुसार बहिरात्मा को छोड़ने के पश्चात् अन्तरात्मा के द्वारा लोकातीत आत्मा की अनुभूति रहस्यवाद है अर्थात् बहिरात्मा को छोड़ने के पश्चात्⁵ अन्तरात्मा के द्वारा परमात्मा की परा-नैतिक अवस्था को प्राप्त करना रहस्यवाद है। अन्तरात्मा बहिरात्मा को आवश्यक रूप से त्याग देता है जिसके फलस्वरूप ध्यान और दूसरे नैतिक साधनों के माध्यम से परमात्मा में रूपान्तरण हो जाता है। । कुन्दकुन्द का अनुसरण

-
2. Mysticism in Mahārāṣṭra, Preface, P.1
 3. Pathway to God in Hindi Literature, P.2
 4. परमात्मप्रकाश, भूमिका, पृष्ठ 26
 5. मोक्षपाहुड, 4, 7

करते हुए योगीन्दु,⁶ पूज्यपाद,⁷ शुभचन्द्र⁸ और कार्तिकेय⁹ आदि ने इस कथन का समर्थन किया है। यह बताना असंगत नहीं होगा कि लोकातीत आत्मा की अनुभूति से केवलज्ञान की सहज उत्पत्ति के कारण पूर्ण अस्तित्व जान लिया जाता है। आत्मानुभूति और दूसरे द्रव्यों का ज्ञान एक साथ होता है। प्रो. रानाडे¹⁰ के अनुसार “रहस्यवाद ईश्वर का प्रत्यक्ष, तात्कालिक, मौलिक और अन्तर्दृष्ट्यात्मक ज्ञान है।”

प्रो. रानाडे के द्वारा दी गयी परिभाषा रहस्यवाद की जैन धारणा के अनुरूप हो जाती है यदि ‘ईश्वर’ शब्द लोकातीत आत्मा के अर्थ में समझा जाता है। इस प्रकार रहस्यवाद कोरा चिंतन नहीं है किन्तु मौलिक, स्वभावगत अनुभव है। यह इन्द्रियगत जीवन से आत्मा के जीवन की ओर गमन है, जिसका अर्थ है अपने शाश्वत स्वभाव को प्राप्त करना। यह लोकातीत आत्मा की अनुभूति है। व्यक्तिगत आत्मा का सीमित गुणधर्म तिरोहित हो जाता है और शाश्वत आत्मा उदित होती है जिसको व्यक्ति अपना मूल स्वभाव मानता है। हम संक्षेप में कह सकते हैं कि रहस्यवाद की अनुभूति पूर्ण जीवन की पराकाष्ठा है जो निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से प्राप्त की जाती है।

रहस्यवाद की जो परिभाषा दी गयी है उसमें रहस्यवाद का उद्देश्य और प्राप्ति की प्रक्रिया दोनों सम्मिलित है। इस तरह रहस्यवाद के स्वरूप की अभिव्यक्ति साधक के आध्यात्मिक खोज का संक्षिप्तीकरण

-
6. परमात्मप्रकाश, 1/12
 7. समाधिशातक, 4, 27
 8. ज्ञानार्णव, 32/10
 9. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 192
 10. Mysticism in Mahārāṣṭra, Preface, P.1

है। जिस प्रकार कुन्दकुन्द ने आत्मा के लोकातीत और सांसारिक स्वरूप की निश्चय और व्यवहार से स्पष्ट व्याख्या की है उसी प्रकार उन्होंने आत्मा के तीन प्रकार बताये हैं जिसके द्वारा आत्मा और अनात्मा में भेद संभव हो सकेगा और रहस्यात्मक अनुभूति के द्वार खुल ही नहीं सकेंगे बल्कि उसके साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकेगा।

तीन प्रकार की आत्मा का निरूपण

(क) बहिरात्मा

बहिरात्मा के अर्थ को चार्वाक दर्शन साररूप में प्रस्तुत करता है। बहिरात्मा का लक्षण है- प्रथम, वह अपने आपका भौतिक शरीर से, संबंधों से और विभिन्न वस्तुओं से तादात्म्य स्थापित कर लेता है¹¹ जिसके परिणामस्वरूप वह शरीर के नष्ट होने पर अपने आपको नष्ट मानता है।¹² द्वितीय, इन्द्रियों के क्षणभंगुर सुखों में वह अपने आपको व्यस्त रखता है,¹³ संसार की इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति से अपने आपको उल्लसित अनुभव करता है और जब वे नष्ट हो जाती हैं तो निरुत्साहित हो जाता है। तृतीय, वह तपों के द्वारा भौतिक सुखों को प्राप्त करने का इच्छुक होता है और मृत्यु के विचार से ही भयभीत हो जाता है।¹⁴

-
11. मोक्षपाहुड, 8
समाधिशतक, 7, 13, 69
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 193
 12. ज्ञानार्णव, 32/18
 13. समाधिशतक, 7, 55,
परमात्मप्रकाश, 1/84
 14. समाधिशतक, 76

(ख) अन्तरात्मा

प्रथम, वह आध्यात्मिक रूप से जाग्रत आत्मा है¹⁵ जिसने आठ प्रकार के मदों को त्याग दिया है¹⁶ और वह अपने आत्मा को ही अपना उपयुक्त आवास मानता है और बाह्य भौतिक आवासों को अप्राकृतिक और कृत्रिम समझता है।¹⁷ द्वितीय, उसने सभी संबंधों से और धन आदि वैभव से तादात्म्य समाप्त कर दिया है।¹⁸ तृतीय, आत्मा के जाग्रत होने से उसने अपने और संसार के प्रति अद्वितीय दृष्टिकोण विकसित किया है। उसका आत्मा ही ऐसा है जिसको मोक्ष का अधिकार प्राप्त हो गया है।¹⁹ वह ऐसी अन्तर्दृष्टि को प्राप्त कर लेता है जिसके फलस्वरूप वह बहिरात्मा की अवस्था में उपस्थित राग और द्वेष रूपी शत्रुओं पर प्रहार करके विजय प्राप्त कर लेता है।

तीन प्रकार की अन्तरात्मा

आध्यात्मिक विकास के सोपानों को ध्यान में रखते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षा²⁰ अन्तरात्मा के तीन प्रकार स्वीकार करती है:- (i) जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है, जो जिनेन्द्र भक्त है, जो आत्म-निन्दा करता है, जो गुणों को ग्रहण करने में तत्पर होता है, जो गुणीजनों

15. मोक्षपाहुड, 5

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 194

16. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 194, आठ प्रकार के मद-(1) ज्ञान, (2) प्रतिष्ठा, (3) कुल, (4) जाति, (5) बल, (6) ऋद्धि या विद्या, (7) तप और (8) शरीर

17. समाधिशतक, 73

18. मोक्षपाहुड, 17

19. मोक्षपाहुड, 14, 87

20. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 194

के प्रति अनुराग रखता है, जो जीवन में व्रत-रहित होता है वह जघन्य अन्तरात्मा कहलाता है।²¹ (ii) अणुव्रतों का पालन करता हुआ गृहस्थ और प्रमाद रहित मुनि जिसकी कषाय मंद है और जो आध्यात्मिक मार्ग में दृढ़ निश्चयी है वह मध्यम अन्तरात्मा कहलाता है।²² (iii) वह मुनि जिसने प्रमाद को जीत लिया है तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान में स्थित हो गया है वह उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाता है।²³

(ग) परमात्मा

परमात्मा सर्वोच्च आत्मा है। यह साधक के जीवन की परिपूर्णता है, उसके आध्यात्मिक प्रयत्नों की समाप्ति है। सदेह परमात्मा अर्हत् कहलाता है जब कि विदेह परमात्मा सिद्ध होता है।²⁴ मोक्षपाहुड का कथन है कि आत्मा कर्मरूपीमल से रहित है, दोषमुक्त है, शरीर और इन्द्रियरहित है, केवलज्ञान व शुद्धता से युक्त है।²⁵ वह जन्म, वृद्धावस्था व मरण से मुक्त है; सर्वोच्च, शुद्ध, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यसहित है; अविभाज्य और अविनाशी है।²⁶ इसके अतिरिक्त वह अतीन्द्रिय है, पाप-पुण्य और पुनर्जन्म से रहित तथा शाश्वत, स्थिर और स्वतन्त्र है।²⁷

21. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 197

22. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 196

23. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 195

24. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 198

25. मोक्षपाहुड, 5, 6

नियमसार, 7

26. नियमसार, 176

27. नियमसार, 177

रहस्यवादी मार्ग

इस प्रकार बहिरात्मा जो मिथ्यादृष्टि होता है, वह त्यागने योग्य है। अन्तरात्मा जो सम्यग्दृष्टि है अर्थात् जो आत्मा जाग्रत होता है वह शरीर, बाह्य जगत और शुभ-अशुभ मनोभावों से पूर्णतया भिन्न होता है। परमात्मा रहस्यवादी खोज का वास्तविक लक्ष्य है। अन्तरात्मा से परमात्मा तक की यात्रा नैतिक और बौद्धिक साधनों के माध्यम से की जाती है जिससे अन्तर्दिव्यता की उत्पत्ति में जो बाधक होता है वह मिटा दिया जाता है। पूर्णता प्राप्त होने से पहले एक ज्योतिपूर्ण अवस्था से गिरना संभव हो सकता है। पूर्ण रहस्यवादी मार्ग इस प्रकार बताया जा सकता है- (1) आत्मजाग्रति, (2) शुद्धीकरण, (3) ज्योतिपूर्ण अवस्था, (4) आत्मा की अंधकारमय रात्रि और (5) लोकातीत (अर्हत्) अवस्था। अंडरहिल के अनुसार “उपर्युक्त सभी विकास की प्रक्रिया के विभिन्न पक्ष हैं, जो चेतना को निम्न स्तर से उच्च स्तर पर ले जाते हैं और जीवन को ‘स्वतन्त्र आध्यात्मिक जगत’ के अनुसार निर्मित करने की प्रेरणा देते हैं।”²⁸ जैनदर्शन की शब्दावली में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रहस्यवादी प्रयत्नों के लिए अनुल्लंघनीय हैं। इस तरह बुद्धि, संकल्प और भाव- ये तीनों ही घटक रहस्यात्मक अनुभूति के लिए किए गए प्रयत्न टाले नहीं जा सकते हैं।²⁹

रहस्यवादी (Mystic) और तत्त्वमीमांसक (Metaphysician)

तात्त्विक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि रहस्यवाद आत्मा की स्वाभाविक उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की अनुभूति है। यह आत्मा के स्वाभाविक गुण और पर्याय की अभिव्यक्ति है अर्थात् यह आत्मा

28. Mysticism, P.169

29. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 20

की स्वरूपसंज्ञा की अनुभूति है। रहस्यवाद और तत्त्वमीमांसा द्रव्य की समस्या के प्रति भेद दर्शाते हैं। (1) रहस्यवादी का मूलभूत उद्देश्य कर्मों के आवरण को भेदकर लोकातीत जीवन की ओर अग्रसर होना है जिसमें केवलज्ञान के उत्पन्न होने के कारण पूर्ण अस्तित्व अनुभव कर लिया जाता है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि तत्त्वमीमांसक और रहस्यवादी एक ही उद्देश्य की ओर बढ़ते हैं जब कि तत्त्वमीमांसक बौद्धिक चिन्तन से उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है। रहस्यवादी जो अनुभव करता है तत्त्वमीमांसक उसको बुद्धि के द्वारा विचारता है। यदि रहस्यवादी की पद्धति अनुभव और अन्तर्ज्ञान है तो तत्त्वमीमांसक की पद्धति केवल विचारणा है। रहस्यवाद मुख्य रूप से व्यावहारिक (Practical) है जब कि तत्त्वमीमांसक विशेषतया सैद्धान्तिक (Theoretical) है। (2) रहस्यवादी दृष्टिकोण व्यवहारनय की तरफ निषेधात्मक होता है, यह रहस्यवादी के लिए असत्य, निरर्थक होता है। इसके विपरीत तत्त्वमीमांसक द्रव्य का स्वरूप प्रमाण और नय से जानता है और द्रव्य के प्रत्येक पक्ष को सप्तभंगों से जानने के पश्चात् स्याद्वाद के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। (3) रहस्यवादी लोकातीत आत्मा का अनुभव करने के पश्चात् लोकोत्तर शाश्वत संतुष्टि प्राप्त करता है। इसके विपरीत तत्त्वमीमांसक पूरे अस्तित्व को परोक्ष रूप से जानने के पश्चात् केवल बौद्धिक अशाश्वत संतुष्टि प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, रहस्यवादी प्रत्यक्ष अनुभव रखता है जब कि तत्त्वमीमांसक केवल परोक्ष अनुभव रखता है। (4) रहस्यवादी बौद्धिक अनुभव का विरोधी नहीं है जब कि तत्त्वमीमांसक इसका विरोधी हो सकता है। जैन दर्शन के अनुसार बुद्धि अन्तर्ज्ञान की विरोधी नहीं है केवल अन्तर्ज्ञान विश्लेषणात्मक बुद्धि से ऊपर उठ जाता है। द्रव्य को पूर्णतया जानने में बुद्धि की अशक्तता जीत ली जाती है। जैनदर्शन इस बात को स्वीकार नहीं करता है कि द्रव्य

(Reality) बौद्धिक और अन्तर्दृष्ट्यात्मक स्तर पर एक-दूसरे के पूर्ण विरोधी है। हम सरसरी तौर पर कह सकते हैं कि बुद्धि आध्यात्मिक यात्रा के लिए आवश्यक है जैसे अन्तर्ज्ञान परमोत्कर्ष व उपसंहार के लिए। जैसे ही रहस्यवादी आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ता है उसकी बुद्धि कुशाग्र हो जाती है। यह कहा जा सकता है कि महान् रहस्यवादी महान् तत्त्वमीमांसक हो सकते हैं जैसे- कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, समन्तभद्र, योगीन्दु, अमृतचन्द्र, हरिभद्र और हेमचन्द्र ने विस्मयकारी महत्त्व के साहित्य की रचना की है।

रहस्यवादी की जैन धारणा और उसका तत्त्वमीमांसा से संबंध का विचार करने के पश्चात् और यह जानने के पश्चात् कि रहस्यवादी और तात्त्विक दृष्टि एक दूसरे से बहुत दूर हैं, अब हम रहस्यवादी मार्ग का चौदह गुणस्थानों³⁰ के अन्तर्गत विचार करेंगे, जैसा जैनाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। हम गुणस्थानों को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखने का प्रयास करेंगे³¹ उदाहरणार्थ- (1) जाग्रति से पूर्व

30. गोम्पटसार जीवकाण्ड, 9-10, गुणस्थान हैं- (1) मिथ्यात्व (2) सासादन (3) मिश्र (4) अविरतसम्यग्दृष्टि (5) देशविरत या विरताविरत (6) प्रमत्तविरत (7) अप्रमत्तविरत (8) अपूर्वकरण (9) अनिवृत्तिकरण (10) सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान (11) उपशान्तकषाय (12) क्षीणकषाय (13) सयोगकेवली गुणस्थान (14) अयोगकेवली गुणस्थान।
31. (1) जाग्रति से पूर्व आत्मा का अंधकारकाल- मिथ्यात्व गुणस्थान (2) आत्मजाग्रति- अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान और उससे पतन- (क) सासादन गुणस्थान (ख) मिश्र गुणस्थान (3) शुद्धीकरण- (क) विरताविरत गुणस्थान (ख) प्रमत्तविरत गुणस्थान (4) ज्योतिपूर्ण अवस्था- (क) अप्रमत्तविरत गुणस्थान (ख) अपूर्वकरण गुणस्थान (ग) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान (घ) सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान (ङ) उपशान्तकषाय गुणस्थान (च) क्षीणकषाय गुणस्थान (5) ज्योतिपूर्ण अवस्था के पश्चात् अंधकार काल- पहले गुणस्थान में या चतुर्थ गुणस्थान में गिरना (6) लोकातीत जीवन- (क) सयोगकेवली गुणस्थान (ख) अयोगकेवली गुणस्थान।

आत्मा का अंधकारकाल या मिथ्यात्व गुणस्थान (2) आत्मजाग्रति और उससे पतन (3) शुद्धीकरण (4) ज्योतिपूर्ण अवस्था (5) ज्योति के पश्चात् अंधकार काल और (6) लोकातीत जीवन।

(1) जाग्रति से पूर्व आत्मा का अंधकारकाल या मिथ्यात्व गुणस्थान

दुःख के कारण संसारी आत्मा अनवरत असंतोष और अशान्ति की स्थिति में रहता है उसका कारण अनादिकाल से चला आ रहा मोहनीय कर्म है जो मानसिक अवस्था में 'मोह' उत्पन्न करता है। 'मोह' की यह अवस्था, जो आत्मा के दृष्टिकोण को विकृत कर देती है और उसके परिणामस्वरूप चारित्र को रहस्यवादी अनुभव की प्राप्ति में अहितकर बना देती है (वह) मिथ्यात्व और कषाय की अवस्था है। प्रारंभ में हम मिथ्यात्व के स्वरूप और कार्य की व्याख्या करेंगे और इसके विभिन्न भेदों को समझायेंगे। कषाय के स्वरूप पर आगे विचार करेंगे।

मिथ्यात्व हमारी दृष्टि को अनुचित दिशा में इस तरह से मोड़ देता है कि चरम मूल्यों में विकृत श्रद्धा या अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।³² मिथ्यात्व का यह प्रभाव इतना दृढ़ होता है कि आत्मा का उचित मार्ग की ओर झुकाव नहीं होता है जिस प्रकार पित्त ज्वर से ग्रसित व्यक्ति को मधुर रस अच्छा नहीं लगता।³³ दूसरे शब्दों में, मिथ्यादृष्टि आत्माएँ अनुचित मार्ग की ओर झुकी हुई होती हैं।³⁴ तात्त्विक दृष्टिकोण से सोचने पर हम कह सकते हैं कि आत्मा जिसने यथार्थ दृष्टि को नहीं

32. षट्खण्डागम, भाग-1, पृष्ठ 163, गाथा 107

33. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 17

34. षट्खण्डागम, भाग-1, पृष्ठ 162

अपनाया है बल्कि अशुद्ध पर्यायों में लीन है (वह) परसमय या मिथ्यादृष्टि कहलाता है।³⁵

हमने यह बताया है कि मिथ्यात्व ज्ञान और चारित्र को विकृत कर देता है। इसकी उपस्थिति में ज्ञान और चारित्र कितने ही विस्तृत हों और नैतिकता से व्याप्त हों तो भी हमको रहस्यवाद की भव्य ऊँचाइयों पर ले जाने के लिए अशक्त होते हैं। परिणामस्वरूप आत्मा के इतिहास में घोर अंधकार का काल वह है जब आत्मा मिथ्यात्व से ग्रसित होता है। यह हमारे सभी रहस्यवादी प्रयत्नों को अवरुद्ध कर देता है। एकेन्द्रिय जीवों से असंज्ञी (मनरहित) पंचेन्द्रिय तब तक मिथ्यात्वरूपी जहर का शिकार होता है जब तक वह संज्ञी (मनसहित) पंचेन्द्रिय रूप में उत्पन्न नहीं होता है। यह आश्चर्यजनक है कि इन संज्ञी (मनसहित) पंचेन्द्रिय जीवों में कुछ ऐसे होते हैं जो कभी भी इस घोर अंधकारमय काल को जीत नहीं सकेंगे। अतः वे कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेंगे। जैन शब्दावली में वे 'अभव्य' कहलाते हैं। इस प्रकार वे सदैव विविध प्रकार के जन्म-मरण के अधीन होते हैं और अन्तहीन दुःखों के शिकार रहते हैं।³⁶

मिथ्यात्व का भौतिक प्रतिरूप दर्शनमोहनीय कर्म है। मिथ्यादृष्टि की प्रवृत्ति पर्यायों में लीन होने की बनी रहती है।³⁷ मिथ्यात्व से भ्रमित होने के कारण आत्मा अपने आपका रंग, शरीर, लिंग, जाति, मत और धन से तादात्म्य स्थापित कर लेता है।³⁸ "इसके प्रभाव में मिथ्यादृष्टि धर्म को अधर्म मानता है, मार्ग को अमार्ग मानता है, जीव को अजीव

35. प्रवचनसार, 1/1,2

36. समयसार, 275 अमृतचन्द्र की टीका सहित

37. परमात्मप्रकाश, 1/ 77

38. परमात्मप्रकाश, 80-83

मानता है, साधु को असाधु मानता है, मुक्त को अमुक्त मानता है और इसके विपरीत भी।”³⁹ इसके अतिरिक्त यदि आत्मा अपने विकृत (मिथ्यात्व) दृष्टिकोण को लिए हुए नैतिक मार्ग पर भी चलता है तो वह ब्रतों के पालन को, तप करने को तथा आगम पढ़ने को अपने आप में लक्ष्य मान लेता है और उनको अपने अन्दर स्थित दिव्यत्व को उद्घाटित करने में सहायक नहीं मानता। इस प्रकार व्यवहारनय ही आदर्श हो जाता है।⁴⁰ हम साररूप में कह सकते हैं कि मिथ्यात्व की अवस्था बहिरात्मा की अवस्था होती है।

मिथ्यात्व के प्रकार

मिथ्यात्व के प्रकारों पर नय के दृष्टिकोण से विचार करने पर हम कह सकते हैं कि एक वस्तु में अनन्त गुण होते हैं, इसलिए जितने गुण हैं उतने नय होते हैं। जब हम दूसरे नयों को छोड़कर किसी एक नय को ही पकड़ लें तो उतनी संख्या ही मिथ्यात्व (विकृत परिणाम) की होगी।⁴¹ अतः मिथ्यात्व की संख्या को सीमित करना आंशिक रूप से ही सही होगा।⁴² पूज्यपाद⁴³ के अनुसार मिथ्यात्व पाँच प्रकार का माना गया है- उदाहरणार्थ (1) एकान्त, (2) विपरीत, (3) संशय, (4) वैनयिक और (5) अज्ञान। (1) एकान्त- दूसरे पक्ष को छोड़कर एक पक्ष पर ही जोर देना एकान्त मिथ्यात्व है।⁴⁴ (2) विपरीत- वस्तु पर

39. स्थानांग सूत्र, 10/1-734 (vide Tatia: Studies in Jaina Philosophy, P. 145)

40. समयसार, 272-274

41. षट्खण्डागम, भाग-1, पृष्ठ 162, गाथा 105

42. षट्खण्डागम, भाग-1, पृष्ठ 162

43. सर्वार्थसिद्धि, 8/1

44. सर्वार्थसिद्धि, 8/1

विश्वास करना जैसी वह नहीं है, विपरीत मिथ्यात्व कहलाता है।⁴⁵
 (3) संशय- जीवन के चरम मूल्यों की ओर संदेहात्मक दृष्टिकोण रखना संशय मिथ्यात्व है।⁴⁶ (4) वैनयिक- उचित और अनुचित दोनों का आदर करना वैनयिक मिथ्यात्व है।⁴⁷ (5) अज्ञान- उन वस्तुओं के प्रति जो ऊर्ध्वगामी दिशा की ओर ले जाती हैं और वे वस्तुएँ जो अधोगामी दिशा की ओर ले जाती हैं उनमें विवेक न करना अज्ञान मिथ्यात्व है।⁴⁸

पूज्यपाद के अनुसार मिथ्यात्व दो प्रकार का भी होता है- जन्मजात (नैसर्गिक) और अर्जित (परोपदेशपूर्वक)।⁴⁹ पूर्ववर्ती पदार्थों या तत्त्वों में जन्मजात अश्रद्धा से उत्पन्न होता है।⁵⁰ परवर्ती दूसरे के उपदेश के विकृत दृष्टिकोण के प्रभाव से (अ-तत्त्वों में विश्वास से) उत्पन्न होता है।⁵¹ इन दोनों में भेद यह है कि प्रथम प्रकार का मिथ्यात्व असंज्ञी (मनरहित-अतार्किक) स्तर पर भी संभव है, जब कि दूसरे प्रकार का मिथ्यात्व संज्ञी (मनसहित-तार्किक) पंचेन्द्रिय मनुष्यों में ही होता है। दूसरे शब्दों में, विकसित बुद्धिवाले प्राणी (संज्ञी) बाहरी विकृत दृष्टि को ग्रहण कर लेते हैं, जब कि अविकसित बुद्धिवाले प्राणी (असंज्ञी) तत्त्वों में जन्मजात अश्रद्धा में ही जीते हैं।

45. सर्वार्थसिद्धि, 8/1

46. सर्वार्थसिद्धि, 8/1

47. सर्वार्थसिद्धि, 8/1

48. सर्वार्थसिद्धि, 8/1

49. सर्वार्थसिद्धि, 8/1

50. सर्वार्थसिद्धि, 8/1

51. सर्वार्थसिद्धि, 8/1

नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक रूपान्तरण

हमने यह बताया है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में आत्मा की दशा पूर्ण रूप से चन्द्रग्रहण के समान होती है अथवा बादलों से घिरे हुए आकाश की तरह होती है। दूसरे शब्दों में, यह आध्यात्मिक निद्रा की स्थिति है जिसकी विशेषता है कि आत्मा स्वयं ही इस निद्रा से अवगत नहीं है। निःसन्देह यह अंधकार का काल है और आत्मा इस विस्मयकारी अंधकार से अनभिज्ञ रहता है। अंधकारमय आत्मा के व्यापक लक्षण इस प्रकार हैं- ऐन्द्रिक जीवन और अपवित्र वस्तुओं में गहन आसक्ति, आत्मा का शरीर, कषाय और बाह्यता के साथ तादात्म्य, लोकातीत जीवन जो पुण्य-पाप से परे होता है उससे अनभिज्ञता, सात प्रकार के भय और आठ प्रकार के मद से ग्रसित और मन की अशान्ति ।

मिथ्यादृष्टि के द्वारा बौद्धिक और नैतिक योग्यता प्राप्त होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसने आध्यात्मिक अंधकार को हटा दिया है। दूसरे शब्दों में, वह गहन रूप से बौद्धिक और दृढ़ रूप से नैतिक हो सकता है किन्तु उसमें रहस्यवाद की योग्यता का अभाव रहेगा, जिसके परिणामस्वरूप वह एक रहस्यवादी सत्य का खोजी और परमात्मा की ओर गति करनेवाला नहीं कहा जा सकेगा। उपर्युक्त वर्णन आश्चर्यचकित कर सकता है किन्तु जैनाचार्यों के द्वारा द्रव्यलिंगी⁵² मुनि और अभव्यों⁵³ का वर्णन जो बौद्धिक ज्ञान और नैतिक विकास में उन्नत थे, आध्यात्मिक रूपान्तरण-रहित जीवन के उदाहरण हैं। निःसन्देह बौद्धिक ज्ञान और नैतिक रूपान्तरण, आगम का अध्ययन और नैतिक सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ लगन से कुछ आत्माओं में रहस्यवादी रूपान्तरण

52. आध्यात्मिक रूपान्तरण के बिना मुनि।

53. वे आत्माएँ जो मोक्ष प्राप्त करने में असमर्थ हैं।

सुगम हो सकता है किन्तु वे नियमानुसार इसको उत्पन्न नहीं कर सकते। बौद्धिक और नैतिक उपलब्धियाँ निःसन्देह सामाजिक दृष्टिकोण से उपयोगी हैं किन्तु आवश्यकरूप से आध्यात्मिक जाग्रति उत्पन्न करने में असमर्थ रहेंगी।

इस प्रकार आध्यात्मिक रूपान्तरण का नैतिक रूपान्तरण और बौद्धिक उपलब्धियों से भेद किया जाना चाहिए। बाह्य शुभ चरित्र और प्रभावशाली बौद्धिकता- ये आध्यात्मिक परिवर्तन की सूचक नहीं हो सकती हैं। इसके विपरीत एक मनुष्य नैतिक मार्ग पर गमन करते हुए और परिष्कृत दृष्टिकोण न रखते हुए भी आध्यात्मिक रूपान्तरण का स्वामी हो सकता है। किन्तु इस कारण से नैतिक आचरण और परिष्कृत ज्ञान की निन्दा नहीं की जानी चाहिए, यद्यपि आध्यात्मिक रूपान्तरण को उनके साथ गड्ढमड्ढ नहीं करना चाहिए। हम जैसे सामान्य लोगों के द्वारा अकेले नैतिक जीवन पर या ज्ञान के साथ नैतिक जीवन पर जहाँ कहीं भी वह दिखायी दे उस पर श्रद्धा की जानी चाहिए, किन्तु नैतिक रूपान्तरण और आध्यात्मिक रूपान्तरण को मिलाना नहीं चाहिए। प्रो. दाते के अनुसार “नैतिक जीवन द्विगुणित रूप से मूल्यवान है- समाज के उत्थान के लिए और आध्यात्मिक जीवन के आधार के रूप में।”⁵⁴ रहस्यवाद का फूल केवल नैतिकता रूपी पानी से नहीं खिलता है किन्तु इसके साथ ही आध्यात्मिक खाद की भी आवश्यकता होती है। नैतिकता आध्यात्मिकता के साथ रहस्यात्मक अनुभव को लोकातीत दिव्य ऊँचाइयों पर ले जा सकती है। अब हम आत्मा और अनात्मा में भेद करके आत्मजाग्रति की चर्चा करेंगे जो हमारे चौथे गुणस्थान का

54. Yoga of the Saints, P.76

विषय है। हमने पूर्व में आत्मजाग्रति के स्वरूप पर विचार कर लिया है।* अब हम उसकी उत्पत्ति की प्रक्रिया के बारे में विचार करेंगे।

(2) सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति या आत्मजाग्रति या अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति या आत्मजाग्रति कभी-कभी उन लोगों के उपदेश से होती है जिन्होंने अपने जीवन में दिव्यत्व अनुभव कर लिया है या परमात्मानुभव के मार्ग पर हैं और कभी-कभी आत्मा को बिना किसी बाह्य उपदेश के अपनी आध्यात्मिक संपदा की स्मृति हो जाती है।⁵⁵ दोनों स्थिति में आत्मजाग्रति उपदेश से उत्पन्न होती है। यह उपदेश या तो प्रत्यक्ष हो सकता है या परोक्ष। अतः उपदेश का महत्त्व सर्वोपरि है, चूंकि जिस आत्मा में आत्मजाग्रति उत्पन्न हुई है उसने वर्तमान जन्म में या किसी पूर्व जन्म में उपदेश सुना होगा। वह व्यक्ति जिसने अनादिकाल से उपदेश नहीं सुना है वह आत्मजाग्रति के लिए समर्थ नहीं होता और जिसने पूर्व जन्म में उपदेश प्राप्त कर लिया है वह वर्तमान में बिना किसी उपदेश के जाग्रत हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उपदेश नहीं टाला जा सकता। उपदेश के साथ-साथ आत्मा की मुक्ति के लिए उचित 'समय' होना आवश्यक है। योगीन्दु बताते हैं कि आत्मा के द्वारा अन्तर्दृष्टि प्राप्त की जाती है जब उपयुक्त अवसर पर मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है।⁵⁶

योगसार में कहा है कि आत्मा उस समय तक अपवित्र स्थानों को जाता है और दुष्कर्म करता है जब तक वह गुरु के प्रसाद से परमात्मा

* (खण्ड-1, अध्याय-तीन)

55. तत्त्वार्थसूत्र, 1/3

56. परमात्मप्रकाश, 1/85

को पहचान नहीं लेता है।⁵⁷ कुन्दकुन्द हमको गुरु के माध्यम से आत्मा को जानकर उसका ध्यान करने का उपदेश देते हैं।⁵⁸ नागकुमार मुनि कहते हैं कि गुरु का उपदेश प्राप्त करने के पश्चात् मोक्ष आत्मा पर ध्यान करने से प्राप्त किया जाता है।⁵⁹ यह कहना आत्मविरोधी नहीं है कि “परमात्मा को अनुभव करने का रहस्य हम चाहें या न चाहें वह रहस्यवादियों के ही हाथ में होता है”⁶⁰ “केवल उन गुरुओं के माध्यम से ही हम आध्यात्मिक रूपान्तरण कर सकते हैं।”⁶¹ पूज्यपाद का कथन है कि आत्मा अकेला अपना गुरु होता है क्योंकि वह स्वयं ही आवागमन और मोक्ष के लिए उत्तरदायी है,⁶² ये बात निश्चय दृष्टि से कही गयी है। इस कारण से गुरु का महत्त्व अध्यात्मवादी रूपान्तरण के लिए कम नहीं आँका जाना चाहिये क्योंकि व्यवहारनय ऊँचाइयों पर ले जाने के लिए महत्त्वपूर्ण है। अब हम जैनदर्शन में सद्गुरु की धारणा के बारे में विचार करेंगे।

सर्वोच्च गुरु के रूप में अरिहंत

जैनदर्शन के अनुसार भक्ति के सर्वोच्च विषय केवल पाँच हैं अर्थात्- अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इस बात को यह कहकर भी व्यक्त किया जा सकता है कि देव, शास्त्र और गुरु उच्चतम भक्ति के योग्य हैं। फिर यह भी कहा गया है कि अरिहंत, सिद्ध, साधु और अरिहंतों के द्वारा उपदिष्ट धर्म लोक में सर्वोत्तम है। अभिव्यक्ति

57. योगसार, 41

58. मोक्षपाहुड, 63, 64

59. तत्त्वानुशासन, 196

60. Yoga of the Saints, P.57

61. Yoga of the Saints, P.58

62. समाधिशतक, 75

के ये भिन्न-भिन्न रूप एक से हैं और एक कहने पर शेष उसमें सम्मिलित हो जाते हैं। यदि हम स्पष्ट करें तो अरिहंत और सिद्ध देवों की श्रेणी में सम्मिलित हैं, आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरु कहलाते हैं और अरिहंत के द्वारा प्रदत्त उपदेश धर्म या शास्त्र कहलाता है। रहस्यात्मक अनुभूति के दृष्टिकोण से अरिहंत और सिद्ध एक स्तर पर होते हैं किन्तु अरिहंत सदेह रूप से मुक्त हैं और सिद्ध विदेह रूप से, इस तरह सिद्ध उच्च स्तर पर होते हैं। चूंकि अरिहंत को सर्वप्रथम नमस्कार किया जाता है और सिद्धों को उसके पश्चात्- इससे ऐसा लगता है कि सिद्धों के प्रति आदर नहीं दिखाया गया है किन्तु जैनदर्शन की धारणा है कि अरिहंतों के माध्यम से हम सिद्धों को पहचानते हैं और उनके माध्यम से ही आप्त, आगम और पदार्थ का ज्ञान हमको हुआ है।⁶³ अतः ये सर्वप्रथम नमस्कार के योग्य हैं। इस प्रकार अरिहंत लोक-कल्याण के लिए उपदेश देने के कारण पूर्ण गुरु हैं, ये पूर्ण देव भी हैं। अपने अन्दर की दिव्यता का पूर्णतया अनुभव करने के कारण ही जगत में रहस्यात्मक जीवन संभव हुआ है। अतः उनके प्रति हमारी कृतज्ञता और परमादर अत्यावश्यक है।

अरिहंत की दोहरी भूमिका

जैनदर्शन में अरिहंत की धारणा की दोहरी भूमिका है- पूर्ण देव और पूर्ण गुरु की भूमिका। आध्यात्मिक अनुभव के दृष्टिकोण से और मानव जाति के कल्याण के उपदेश के दृष्टिकोण से दोनों भूमिका ही संगत हैं। गुरुत्व का संबंध अन्तर्दृष्ट्यात्मक अनुभव की बाहरी अभिव्यक्ति से है जब कि देवत्व केवल आत्मा के अंतरंग आत्मानुभव को दर्शाता है। इस प्रकार अर्हत् की धारणा देवत्व और गुरुत्व के तादात्म्यकरण की

63. षट्खण्डागम, भाग-1, पृष्ठ 53

धारणा है अर्थात् आत्मानुभव और बाहरी अभिव्यक्ति के तादात्म्यकरण से है। सिद्ध अवस्था में रहस्यात्मक अनुभव की बाहरी अभिव्यक्ति नहीं होती है जो अरिहंत के जीवन से घनिष्ठ रूप से संबंधित होती है। अरिहंत की इस दोहरी भूमिका के कारण अरिहंत सिद्धों से पहले नमस्कार किये जाते हैं, सिद्ध धर्म का उपदेश देने में असमर्थ होने के कारण केवल देव ही हैं। प्रो. ए. एन. उपाध्ये का कथन है कि “जैन तीर्थंकर जो उच्चतम आध्यात्मिक अनुभव के शिखर पर हैं वे आदर्श गुरु हैं और उनकी वाणी उच्चतम रूप से प्रामाणिक होती है।” यह सिद्धों के महत्त्व को घटाना नहीं है किन्तु अरिहंत का उच्चतम गुरु के रूप में महिमा गान है क्योंकि गुरुत्व उनका अतिरिक्त लक्षण है।

गुरु के रूप में आचार्य

अरिहंत जो दिव्य आत्माएँ हैं उनसे भिन्नता लिए हुए आचार्य, उपाध्याय और साधु होते हैं जो आत्मानुभव के मार्ग पर हैं। वे अभी तक दिव्य मार्ग के यात्री हैं यद्यपि रहस्यात्मक गुण जो गुरु होने के लिए आवश्यक हैं उनमें उपस्थित हैं। केवल आचार्य को ही व्यक्तियों को रहस्यात्मक जीवन में दीक्षा देने का अधिकार है इसलिए वे गुरु कहलाते हैं। उनके जीवन का उत्कृष्ट गुण है उन आत्माओं को मुनि-दीक्षा देना जो रहस्यात्मक जीवन की ओर प्रवृत्त हैं। और वे उनको नैतिक और आध्यात्मिक मार्गदर्शन प्रदान करते हैं, उनकी भूलों को ठीक करते हैं और उनको आध्यात्मिक मार्ग में पुनर्स्थापित करते हैं।⁶⁴ वह मुनि-संघ के शासन और नियमन के लिए उत्तरदायी हैं।⁶⁵ आचार्य का यह कर्तव्य है कि वह शास्त्र-ज्ञान में और समकालीन धर्म में पारंगत होना

64. षट्खण्डागम, भाग-1, पृष्ठ 49

65. षट्खण्डागम, भाग-1, पृष्ठ 49

चाहिये।⁶⁶ इसके अतिरिक्त वे मेरुपर्वत की तरह अटल होते हैं, पृथ्वी की तरह सहनशील होते हैं, सात प्रकार के भय से रहित होते हैं और समुद्र की तरह शुद्ध होते हैं।⁶⁷

उपाध्याय और साधु की विशेषताएँ

उपाध्याय में आचार्य की सभी विशेषताएँ होती हैं सिवाय दीक्षा देने के और शिष्यों के दोषों को ठीक करने के।⁶⁸ उपाध्याय की विशिष्ट विशेषता गंभीर अध्ययन करके आध्यात्मिक विषयों पर प्रवचन करना है।⁶⁹ वे केवल प्रवचन दे सकते हैं, आचार्य की तरह आदेश नहीं दे सकते हैं। साधु वे होते हैं जो नैतिक और आध्यात्मिक नियमों का पालन करते हैं किन्तु आचार्य और उपाध्याय की तरह कोई विशिष्ट कार्य नहीं करते हैं। इस तरह से यह स्पष्ट है कि आचार्य के जीवन में उपाध्याय और साधु के आचरण सम्मिलित हैं। इस दृष्टिकोण से यह कहना अनुचित नहीं होगा कि आचार्य का स्थान अरिहन्तों के पश्चात् है जो आध्यात्मिक जीवन की रक्षा और उसकी अनवरतता का कार्य करते हैं।

आध्यात्मिक रूपान्तरण या आत्मजाग्रति (सम्यग्दर्शन)

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति उन महान आत्माओं के उपदेश से होती है जिन्होंने दिव्यता का अनुभव कर लिया है या जो आत्मानुभव के मार्ग पर हैं। यह सम्यग्दर्शन उपदेश के कारण दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होता है, यह ऐसा ही है जैसे अकस्मात् जन्मान्ध को आँखें मिल

66. षट्खण्डागम, भाग-1, पृष्ठ 49

67. षट्खण्डागम, भाग-1, पृष्ठ 49

68. षट्खण्डागम, भाग-1, पृष्ठ 50

69. षट्खण्डागम, भाग-1, पृष्ठ 50

जाये। यह सच है कि आत्म-दृष्टि मिलने पर सत्य का अनुभव हो जाता है और उससे आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव होता है। यह आध्यात्मिक रूपान्तरण उपशम सम्यक्त्व के नाम से जाना जाता है, क्योंकि यह दर्शनमोहनीय⁷⁰ कर्म के उपशम से उत्पन्न होता है और शुद्ध जल की तरह शुद्ध होता है।⁷¹

सम्यक्त्व (आध्यात्मिक रूपान्तरण) के प्रकार और निम्न गुणस्थानों में गिरने की संभावना, उदाहरणार्थ (क) सासादन गुणस्थान और (ख) मिश्र गुणस्थान

यह उपशम⁷² सम्यक्त्व केवल एक अन्तर्मुहूर्त⁷³ (अधिकतम 48 मिनट) के लिए होता है लेकिन उसके पश्चात् दर्शनमोहनीय कर्म तीन विभिन्न खण्डों में बँट जाते हैं- (1) मिथ्यात्व, (2) सम्यक्-मिथ्यात्व और (3) सम्यक्-प्रकृति।⁷⁴ इस प्रकार चौथे गुणस्थान में चार अनंतानुबंधी कषाय और तीन दर्शनमोहनीय कर्म के खंडों का आत्मा उपशम करता है। एक अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् आत्मा या तो निम्न गुणस्थानों में गिर जाता है या चौथे गुणस्थान में ही कुछ विकार लिए हुए उठर जाता है।⁷⁵ (1) जब 'मिथ्यात्व' खंड का उदय होता है तो आत्मा पहले (मिथ्यात्व) गुणस्थान में गिर जाता है जहाँ अंधकार उसको घेर

70. दर्शनमोहनीय कर्म और अनंतानुबंधी कषाय एक-दूसरे से अन्तर्गुम्फित हैं।

71. गोम्मतसार जीवकाण्ड, 649

72. लब्धिसार, 2

73. भावनाविवेक, 100

74. गोम्मतसार कर्मकाण्ड, 26

75. भावनाविवेक, 93

लब्धिसार, 102

लेता है।⁷⁶ (2) यदि 'सम्यक्-मिथ्यात्व' खंड का उदय होता है तो आत्मा तीसरे (मिश्र) गुणस्थान में गिर जाता है या चौथे (अविरतसम्यग्दृष्टि) गुणस्थान में उठ जाता है।⁷⁷ यदि अनंतानुबंधी कषाय का उदय होता है तो आत्मा दूसरे (सासादन) गुणस्थान में गिर जाता है। यहाँ से वह निश्चित रूप से मिथ्यात्व गुणस्थान में गिर जाता है जो पूर्ण अंधकार का प्रथम गुणस्थान है।⁷⁸ (3) जब 'सम्यक्-प्रकृति' खण्ड का उदय होता है तो आत्मा चौथे (अविरतसम्यग्दृष्टि) गुणस्थान में ठहर जाता है,⁷⁹ किन्तु इसमें उपशम सम्यक्त्व की शुद्धता खो जाती है फिर भी यह आत्मा को आध्यात्मिक विकास में ले जाने में सक्षम है। यह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है⁸⁰ इसमें भी पतन के कीटाणु उपस्थित रहते हैं। जब आत्मा केवली⁸¹ के सम्पर्क में आता है तो दर्शनमोहनीय कर्म का पूर्णतया क्षय हो जाता है⁸² और तब आत्मा निम्न गुणस्थानों में नहीं गिरता है।⁸³ यह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।⁸⁴ उसकी शुद्धता उपशम सम्यक्त्व जैसी होती है किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व

76. लब्धिसार, 108

77. लब्धिसार, 107

78. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 20

79. लब्धिसार, 105

80. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 309

गोम्मटसार जीवकाण्ड, 25, 648

81. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 308

गोम्मटसार जीवकाण्ड, 647

82. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 308

गोम्मटसार जीवकाण्ड, 648

83. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 646

84. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 645

स्थायी होता है और उपशम सम्यक्त्व अस्थायी होता है।⁸⁵ इस तरह से चौथे गुणस्थान में दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम से आध्यात्मिक रूपान्तरण होता है जो उपशम सम्यक्त्व कहलाता है या सम्यक् प्रकृति के उदय से भी जो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। क्षायिक सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है।

आध्यात्मिक रूपान्तरण या आत्मजाग्रति (सम्यग्दर्शन) के पश्चात् रहस्यवादी यात्रा के लिए आवश्यकताएँ

दर्शनमोहनीय कर्म के कारण उत्पन्न घोर अंधकार को नष्ट करने के साथ-साथ रहस्यात्मक यात्रा का एक भाग पार कर लिया गया है अर्थात् आत्मा अन्तरात्मा में रूपान्तरित हो चुका है और उसके कारण वह परिवीक्षा पर एक नये जगत का नागरिक हो गया है।⁸⁶ पूज्यपाद का कथन है कि आत्मा जो आध्यात्मिक चेतना के अभाव में गहरी निद्रा में सुप्त था वह अब आत्मा का स्वाद विकसित करने के कारण जाग्रत आत्मा बन चुका है।⁸⁷ वे स्रोत जो सुप्त आत्मा को अस्थायी संतुष्टि प्रदान करते थे अब पराजित हो गये हैं और उनके स्थान पर शाश्वत संतुष्टि के अंतरंग स्रोत खुल गये हैं।⁸⁸ एक पूर्ण परिवर्तन उत्पन्न हो गया है। इतना होते हुए भी अभी भी एक लम्बी यात्रा आत्मा के द्वारा की जानी है जिससे आत्मा परमात्मा में परिवर्तित हो सके और एक स्थायी और सम्माननीय स्थिति 'नये जीवन' के सदस्यों में प्राप्त हो सके।⁸⁹

85. लब्धिसार, 164

86. Yoga of the Saints, P.60

87. समाधिशतक, 24

88. समाधिशतक, 60

89. Yoga of the Saints, P.60

चारित्रमोहनीय कर्म के कारण साधक अतीन्द्रिय प्रयास में असमर्थ रहता है। अब जाग्रत आत्मा की उत्कट इच्छा उन सब चीजों को समाप्त करने की है जो आत्मा और लोकातीत आत्मा के बीच अवरोध करती हैं। दूसरे शब्दों में, रहस्यवादी साहस लोकातीत श्रद्धा और लोकातीत जीवन में और प्रथम ज्योति और अंतिम ज्योति के मध्य जो विषमता है उसको नष्ट करने में है। रहस्यवादी की शेष यात्रा सम्यक् संकल्प और सम्यग्ज्ञान रूपी प्रकाश से उन सब कठिनाइयों को जो उसके नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग में अवरोधक हैं, हटाने में है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि जिन्होंने मिथ्यात्व नष्ट कर दिया है और जिन्होंने 'मार्ग' को समझ लिया है और जो संकल्प शक्ति रखते हैं वे मार्ग पर चलने में समर्थ होते हैं।⁹⁰

वह आचार जो बौद्धिक अज्ञान से उत्पन्न होता है, उपयुक्त मार्ग नहीं कहा जा सकता है क्योंकि आचार का पालन 'मार्ग' की समझ से ही उपयुक्त कहा गया है।⁹¹ हमें यह नहीं समझना चाहिये कि बौद्धिक स्पष्टता और चारित्रिक जीवन यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से भिन्न-भिन्न हैं वे व्यवहार में भी भिन्न ही होंगे। सच तो यह है कि वे व्यावहारिक जीवन में एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और उनको एक दूसरे से अलग करना संभव नहीं है। जैनागम में कहा है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक दूसरे से कार्य-कारण रूप से संबंधित होते हैं जैसे प्रकाश और दीपक।⁹² सम्यग्दर्शन बौद्धिक ज्ञान को सही दिशा में मोड़ने के लिए सशक्त होता है, इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि बौद्धिक प्रयत्न आवश्यक

90. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 37

91. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 38

92. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 34

नहीं है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए समुचित प्रयत्न करना आवश्यक है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं तो भी इनके लक्षण भिन्न-भिन्न होते हैं, एक का अर्थ श्रद्धा और दूसरे का अर्थ ज्ञान।⁹³ अतः साधक ने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया तो भी बौद्धिक उपासना और नैतिक आराधना टाली नहीं जा सकती है।

(3) शुद्धीकरण या (क) विरताविरत गुणस्थान (ख) प्रमत्तविरत गुणस्थान

साधक चौथे गुणस्थान में अर्थात् अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में अनिच्छापूर्वक हिंसा में रत होता है और भौतिक सुखों में लीन रहता है,⁹⁴ वह पाँचवें गुणस्थान अर्थात् विरताविरतगुणस्थान में पहुँचने पर आत्मसंयम के पालन की ओर झुकता है। चूँकि वह चौथे गुणस्थान में अर्थात् अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में अपने को सब पापों से मुक्त नहीं कर पाता है वह पाँचवें गुणस्थान में अपनी चारित्रिक बेचैनी पर विजय प्राप्त करते हुए शीलव्रतों सहित अणुव्रतों को ग्रहण करता है। हम उनका वर्णन गृहस्थ के आचार में कर चुके हैं।⁹⁵ आत्मा की इस यात्रा के पड़ाव को विरताविरत या देशविरत गुणस्थान कहा जाता है, क्योंकि यहाँ साधक दो इन्द्रियों से पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा का त्याग करता है किन्तु एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा उसे करनी पड़ती है।⁹⁶

आत्मानुशासन में गुणभद्र ने आध्यात्मिक विकास के लिए गृहस्थ की असमर्थता को बताया है। उनके अनुसार गृहस्थ की क्रियाएँ

93. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 32

94. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 29

95. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 30

96. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 31

एक बेहोश आदमी की तरह होती हैं या हाथी के स्नान की तरह होती हैं या अंधे आदमी के द्वारा रस्सी गूँथने की तरह होती हैं क्योंकि चतुर से चतुर व्यक्ति भी गृहस्थ स्तर पर कभी प्रशंसनीय कार्य करता है और कभी चरित्रहीन क्रियाएँ करता है और कभी मिली-जुली क्रियाएँ करता है।⁹⁷ अतः परवर्ती दो प्रकार की क्रियाएँ शुद्धीकरण के मार्ग को जो रहस्यवादी के द्वारा पालन किया जाता है उसको अवरुद्ध करती हैं। परिणामस्वरूप गृहस्थ जीवन का त्याग रहस्यवादी के विकास के लिए आवश्यक कहा गया है।

हम पहले ही बता चुके हैं कि गृहस्थ अपने आपको मुनिरूप में परिवर्तित करने के लिए सूक्ष्म पापों को शनैः-शनैः त्यागता है जिसके फलस्वरूप वह पाप प्रवृत्तियों को छोड़ता है और आत्मसंयम धारण करता है। यद्यपि प्रमाद अभी भी मुनि के जीवन में उपस्थित है तो भी यह प्रमाद उसके आत्मसंयम को नष्ट नहीं करता है, वह केवल मुनि के जीवन में थोड़ी-सी विकृति उत्पन्न करता है,⁹⁸ अतः यह प्रमत्तविरत गुणस्थान कहलाता है क्योंकि यहाँ प्रमाद आत्मसंयम के साथ विद्यमान होता है।⁹⁹ दूसरे शब्दों में, इस गुणस्थान में आत्मा आत्मसंयम का पालन करते हुए भी थोड़ा प्रमाद दर्शाता है।¹⁰⁰ इस गुणस्थान में आत्मा मुनि जीवन के लिए आवश्यक सारे अनुशासन का पालन करता है ¹⁰¹ फिर भी यह गुणस्थान शुद्धीकरण के मार्ग की समाप्ति समझा जा सकता है।¹⁰²

97. आत्मानुशासन, 41

98. षट्खण्डागम, भाग-1, पृष्ठ 176

99. षट्खण्डागम, भाग-1, पृष्ठ 175

100. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 32

101. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 33

102. Mysticism, P.381

मुनि की विशेषताएँ

पूर्व अध्याय अर्थात् 'मुनि का आचार' नामक अध्याय में मुनि की विशेषताएँ बतायी जा चुकी हैं। मूलाचार मुनि के दृष्टिकोण को अति उत्तम तरीके से सार रूप में प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार मुनि भिक्षा से भोजन प्राप्त करें, वन में रहें, अल्प भोजन करें, अत्यधिक बोलने को त्यागें, निद्रा को जीतें, परीषहों को सहें, सामाजिक जीवन से दूर रहें, सभी प्राणियों से मैत्री करें, अनासक्त रहें, ध्यान में अपने आपको लगायें, आध्यात्मिक विकास में रत रहें और अंत में कषायों से, परिग्रह से, संबंधियों से- इन सबसे दूर रहें।¹⁰³ इसके अतिरिक्त मुनि दस धर्मों का पालन करें¹⁰⁴ अर्थात् (1) क्षमा- मनुष्यों, देवताओं और तिर्यकों के प्रति क्षमा भाव रखें यद्यपि उन्होंने उसको बहुत कष्ट दिया है तो भी मुनि सबको क्षमा करें और क्रोध नहीं करें। (2) मार्दव- ज्ञान और तप के क्षेत्र में अत्यधिक उपलब्धियाँ होने पर नम्र रहें। (3) आर्जव- मन-वचन और काय में असंगत न रहें, अपने दोषों को न छिपायें और दूसरे को धोखा न दें। (4) शौच- संतुलन व संतोष रूपी जल से लोभ के मैल को धोयें और भोजन के प्रति आसक्ति न रखें। (5) सत्य- आगम के अनुरूप उपदेश दें चाहे मुनि स्वयं इतने ऊँचे आचरण का पालन न कर सके। (6) संयम- छोटे से छोटे जीवों को बचाने के प्रति सावधान रहें। (7) तप- तपों का पालन इस जीवन में और दूसरे जीवन में उपलब्धियों के लिए न करें। (8) त्याग- स्वादिष्ट भोजन का त्याग करें तथा ऐसे निवास का भी त्याग करें जहाँ आसक्ति पैदा हो सकती है। (9) आकिंचन- सभी प्रकार के परिग्रह को त्यागें। (10) ब्रह्मचर्य- कामुक संबंधों से दूर रहें।

103. मूलाचार, 895, 896

104. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 394 - 403

रहस्यवादी के विकास के अगले गुणस्थानों को वर्णन करने से पहले हम स्वाध्याय और जैनधर्म में भक्ति की धारणा पर विचार करेंगे, क्योंकि ये दोनों रहस्यवादी के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के महत्त्वपूर्ण घटक हैं।

स्वाध्याय के महत्त्व को समझे बिना साधक उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा और भक्ति के मूल्यांकन के बिना वह अपने नैतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों को स्थायी बनाने में सफल नहीं होगा।

स्वाध्याय के प्रकार

स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं-¹⁰⁵ (1) वाचना- जो व्यक्ति सीखने की जिज्ञासा रखता है उसके लिए शब्दों और अर्थों को समझाना। (2) पृच्छना- अपने संदेह को दूर करने के लिए तथा शब्दों के अर्थों को पुष्ट करने के लिए प्रश्न पूछना। (3) अनुप्रेक्षा- सीखे हुए अर्थ पर बार-बार विचार करना। (4) आमनाय- आगमों को कंठस्थ करना और उनकी पुनरावृत्ति करते रहना। (5) धर्मोपदेश- कुमार्ग को नष्ट करने की इच्छा से नैतिक सिद्धान्तों पर प्रवचन देना जिससे संदेह दूर हो जाएँ और जीवन के आवश्यक पहलू प्रकाशित हों।

आगम चार अनुयोगों के रूप में

आगम चार अनुयोगों के रूप में विभक्त है- (1) प्रथमानुयोग, (2) करणानुयोग, (3) चरणानुयोग, और (4) द्रव्यानुयोग।

(1) प्रथमानुयोग- प्रथमानुयोग प्रस्तुत करता है- एक व्यक्ति के

105. उत्तराध्ययन, 30/34

सर्वार्थसिद्धि, 9/25

राजवार्तिक, 9/25

जीवन का चित्रण या तरेसठ शलाका पुरुषों का वर्णन अथवा दोनों का।¹⁰⁶ इसमें मनुष्य जीवन के चार उद्देश्यों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष), तीन रत्नों की प्राप्ति (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) और धर्मध्यान व शुक्लध्यान के बारे में निरूपण किया जाता है।¹⁰⁷ इस अनुयोग के अन्तर्गत महापुराण, हरिवंशपुराण, पाण्डवपुराण, पद्मपुराण आदि सम्मिलित हैं। (2) **करणानुयोग**— करणानुयोग में लोक और अलोक, समय का परिवर्तन और चार गतियों के विषय का वर्णन होता है।¹⁰⁸ इस अनुयोग के अन्तर्गत त्रिलोकसार और तिलोपपण्णत्ती आदि समायोजित हैं। (3) **चरणानुयोग**— चरणानुयोग में गृहस्थ व मुनि के आचार के विविध पक्षों के बारे में विचार किया जाता है।¹⁰⁹ मूलाचार, भगवतीआराधना, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि ग्रन्थ चरणानुयोग के उदाहरण हैं। (4) **द्रव्यानुयोग**— जीव-अजीव, पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष के स्वरूप की व्याख्या करता है।¹¹⁰ प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, समयसार आदि इस अनुयोग के अन्तर्गत हैं। तत्त्वार्थसूत्र परवर्ती तीनों अनुयोगों (करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग) को साररूप में प्रस्तुत करता है।

स्वाध्याय का महत्त्व

जैनधर्म के अनुसार सम्यग्ज्ञान वह है जो जीवन के सार को प्रकाशित करता है; आत्मसंयम का पोषण करता है; “जो विषयासक्ति

106. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, टीका 2/2

107. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 43

108. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 44

109. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 45

110. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 46

के गर्त से मन को आत्मा के स्तर पर ले जाता है;”¹¹¹ जो अनासक्ति का शिक्षण देता है; उदात्त मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित करता है और सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भाव विकसित करने में सहयोग करता है।¹¹² स्वाध्याय को इस प्रकार के ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त स्वाध्याय साधक में इन्द्रियसंयम की भावना को जगाता है तथा उसके कारण ही तीन गुप्ति का पालन किया जाता है, मानसिक एकाग्रता प्राप्त की जाती है और नम्रता उत्पन्न की जाती है।¹¹³ स्वाध्याय से उत्पन्न ज्ञान मार्गच्युत होने से बचाता है जैसे धागा सुई को खोने से बचाता है।¹¹⁴

कुन्दकुन्द स्वाध्याय के महत्त्व को बताते हुए कहते हैं कि यह मोह को नष्ट करने में काम आता है।¹¹⁵ पूज्यपाद के अनुसार स्वाध्याय का उद्देश्य बुद्धि को समृद्ध करना; नैतिक और आध्यात्मिक प्रयत्न को परिष्कृत करना; अनासक्ति की भावना को उत्पन्न करना; सांसारिक दुःखों से भयभीत करना; तपों के पालन में विकास करना और उन दोषों को शुद्ध करना जो दिव्य मार्ग पर चलने में बाधक होते हैं।¹¹⁶ अकलंक के अनुसार स्वाध्याय से तीर्थंकरों के उपदेशों का प्रचार होता है, अपने व साधर्मियों के संदेह समाप्त होते हैं और अपने सिद्धान्तों पर आक्रमण से बचाव होता है।¹¹⁷ स्वाध्याय से मन की चंचलता और बुद्धि की

111. Yoga of the Saints, P.66

112. मूलाचार, 267, 268

113. मूलाचार, 410, 969

114. मूलाचार, 971

115. प्रवचनसार, 1/86

116. सर्वार्थसिद्धि, 9/25

117. राजवार्तिक, 9/25

अस्थिरता उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से अंधकार नष्ट हो जाता है।¹¹⁸ स्वाध्याय से मानसिक एकीकरण और एकाग्रता उत्पन्न होती है क्योंकि साधक बाधाओं को जीतकर वस्तुओं के स्वरूप को जान लेता है।¹¹⁹ स्वाध्याय के बिना व्यक्ति का गुणात्मक मार्ग से भटकने का खतरा बना रहता है, जैसे कि एक वृक्ष जो फूलों और पत्तियों से भरा हुआ होता है वह जड़ के बिना अपने को नाश होने से नहीं बचा सकता।¹²⁰

बारह प्रकार के तर्पों में स्वाध्याय का महत्त्व सर्वोपरि होता है।¹²¹ यदि स्वाध्याय गृहस्थ को ध्यान और भक्ति के माध्यम से मुनि बनने के लिए प्रेरित करता है तो यह मुनि के लिए ध्यान की थकान से विश्राम करने के काम आता है। स्वाध्याय से ध्यान की प्रेरणा मिलती है और यह संतोष और बौद्धिक निधि प्रदान करता है। “यह मस्तिष्क के लिए पुष्टिकारक दवा है और हृदय के लिए रसानन्द है।”¹²² इससे रहस्यवादी सत्यों के बारे में दार्शनिक संतोष प्राप्त होता है और एक ऐसी उत्कट भावना पैदा होती है कि हम उन सत्यों का जीवन में अनुभव करें। “स्वाध्याय से रहस्यवादी मन को अपनी सीमाओं का भान होता है, यह साधक को प्रयत्न करने के लिए जगाता है, उसके ध्यान व भक्ति को बढ़ाता है तथा उसको नैतिक गुणों के विकास के लिए प्रेरणा देता है।”¹²³

118. अमितगति श्रावकाचार, 13/83

119. प्रवचनसार, 3/32

120. अमितगति श्रावकाचार, 13/88

121. मूलाचार, 409, 970

122. Yoga of the Saints, P.64

123. Yoga of the Saints, P.65

भक्ति का स्वरूप

अब हम जैनधर्म के अनुसार भक्ति के स्वरूप को समझेंगे। दिव्यत्व प्राप्त आत्माओं के प्रति या जो दिव्य अनुभूति के मार्ग पर काफी आगे बढ़ चुके हैं उनके प्रति उदात्त अनुराग भक्ति है।¹²⁴ भक्त भक्ति के विषय अर्हत् और सिद्ध से परिचित है। भक्त अर्हत् और सिद्ध के सामने जब होता है तो वह अपने आपको निर्लज्ज,¹²⁵ अज्ञानी,¹²⁶ बालक के समान¹²⁷ और उल्लू की तरह दुराग्रही¹²⁸ आदि अनुभव करता है। यह एक प्रकार की धार्मिक नम्रता है, आत्महीनता है और आत्मावमूल्यन है और 'तुच्छ जीवत्व'¹²⁹ की चेतना है। यह उनके सामने जो लोकातीत हैं अपने आपको तुच्छ मानने की गंभीर मानसिक प्रतिक्रिया है, कोई बौद्धिक व्याख्या नहीं है किन्तु अपने भावों को उचित प्रकार से व्यक्त करने का प्रयास है।

भक्त-चेतना का विषय अनुपम¹³⁰ होने के अर्थ में पूर्णतया 'लोकभिन्न' (Wholly other) है। यह पूर्णतया उन सब चीजों से मूलभूत रूप से अन्य है जो विचारी जा सकती हैं। भक्ति का विषय 'तेजस्वी'¹³¹

124. सर्वार्थसिद्धि, 6/24

125. भक्तामर स्तोत्र, 3

126. स्वयंभू स्तोत्र, 15

127. स्वयंभू स्तोत्र, 30

128. कल्याणमंदिर स्तोत्र, 3

129. Idea of the Holy , P.21

130. युक्त्यनुशासन, 4

षट्खण्डागम, भाग-1, 1

131. Idea of the Holy , P.19, 20

(Majestic) इस अर्थ में होता है कि उसके अनन्त गुण हमारे द्वारा निरूपित नहीं किये जा सकते हैं।¹³²

तुच्छता की भावना से ग्रसित होते हुए और भक्ति के विषय को पूर्णतया लोकभिन्न मानते हुए भी भक्त भक्ति के वशीभूत अर्हत् और सिद्ध की स्तुति के लिए प्रवृत्त होता है हिरणी की तरह, जो प्रेम के वशीभूत अपने बच्चे को शेर के मुख से बचाने की ओर प्रवृत्त है या उस कोयल की तरह जो बसन्त ऋतु में आम्र-मंजरी उपस्थित होने के कारण गाती है।¹³³ इससे ज्ञात होता है कि भक्ति के विषय (Object) में एक 'चित्ताकर्षण का तत्त्व'¹³⁴ (Element of fascination) होता है। भक्ति का विषय अनन्तता के कारण भयभीत करता है फिर भी यह 'चित्ताकर्षक' होता है और भक्त को आनन्द में निमग्न कर देता है।¹³⁵ इसका परिणाम यह है कि उसकी वाणी परमात्मा के गुणगान में लग जाती है।¹³⁶

भक्त यह अनुभव करता है कि चूँकि जगत की सारी वस्तुएँ उसको आध्यात्मिक शांति देने में असमर्थ हैं इसलिए वह अर्हत् और सिद्ध को अपने आपको समर्पित कर देता है जिससे दुःखपूर्ण आवागमनात्मक अस्तित्व समाप्त हो जाय। भक्त दिव्य चेतना से इतना आकर्षित हो जाता है कि वह उसको अपने हृदय में स्थापित करने की इच्छा प्रकट करता है।¹³⁷

132. युक्त्यनुशासन, 2

भक्तामर स्तोत्र, 5

कल्याणमंदिर स्तोत्र, 6

133. भक्तामर स्तोत्र, 5, 6

134. Idea of the Holy, P.31

135. स्वयंभू स्तोत्र, 80

136. सामायिकपाठ, 4

137. कल्याणमंदिर स्तोत्र, 10

भक्त की समर्पण भावना उस समय देखी जा सकती है जब समन्तभद्र यह घोषणा करते हैं कि वही बुद्धि होती है जो परमात्मा को स्मरण रखती है; वही सिर होता है जो उसके चरणों में झुक जाता है; वही सफल जीवन होता है जो उसके पवित्र संरक्षण में जीता है; वही वाणी है जो उसकी प्रशंसा के गीत गाती है; वही पवित्र मनुष्य होता है जो परमात्मा की भक्ति में तल्लीन रहता है और वही विद्वान होता है जो परमात्मा के चरणों में झुकता है।¹³⁸ परिणामस्वरूप परमात्मा ही अकेला उसके श्रद्धा का केन्द्र होता है। वह उसको याद करता है और उसकी पूजा करता है; उसके दोनों हाथ उसका सत्कार करने के लिए ही हैं; उसके कान उसकी विशेषताओं को सुनने के लिए होते हैं; उसकी आँखें उसके सौन्दर्य को देखने के लिए होती हैं; उसकी मूलभूत आदत उसकी प्रशंसा में कुछ लिखने की होती है और उसका सिर सदैव उसके प्रति झुका रहता है।¹³⁹

भक्ति के प्रकार

अब हम भक्ति के प्रकारों पर विचार करेंगे। यह अर्हत् भक्ति, आचार्य भक्ति, उपाध्याय भक्ति और प्रवचन भक्ति के रूप में अभिव्यक्त की जा सकती है।¹⁴⁰ दूसरे प्रकार से भी इसका वर्गीकरण किया गया है—सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति, चारित्र भक्ति, योगी भक्ति, आचार्य भक्ति, निर्वाण भक्ति, पंचगुरु भक्ति, तीर्थकर भक्ति, नन्दीश्वर भक्ति, शान्ति भक्ति, समाधि भक्ति और चैत्य भक्ति।¹⁴¹ कुन्दकुन्द नियमसार में भक्ति

138. जिनशतक, 113

139. जिनशतक, 114

140. तत्त्वार्थसूत्र, 6/24

141. दशभक्ति संग्रह, पृष्ठ 96 - 226

के दो वर्ग बताते हैं- निर्वृत्ति भक्ति और योग भक्ति।¹⁴² पूर्ववर्ती में समाविष्ट हैं- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और मुक्तात्मा। परवर्ती के अन्तर्गत हैं- आसक्ति और सभी दूसरे विचारों को त्यागने के पश्चात् आत्मध्यान में तल्लीनता।¹⁴³ हम हमारे विचार से भक्ति के विभिन्न प्रकार इस तरह व्यक्त कर सकते हैं- स्तुति, वन्दना, मूर्तिपूजा, नामस्मरण, भजन, कीर्तन, विनय, वैयावृत्य और अभीक्षणज्ञानोपयोग। हम पूर्व में स्तुति, वन्दना, विनय और वैयावृत्य का वर्णन कर चुके हैं। मूर्तिपूजा के विस्तार की आवश्यकता नहीं है। जैन मंदिर इस प्रकार की पूजा के उदाहरण हैं। नामस्मरण में ओम् तथा परमेष्ठी के नाम की पुनरावृत्ति की जाती है। द्रव्यसंग्रह¹⁴⁴ के अनुसार णमोकार मंत्र और गुरु के द्वारा दिये गये अन्य मंत्रों की पुनरावृत्ति और उन पर ध्यान भक्ति है। सोमदेव णमोकार मंत्र को अत्यधिक महत्त्व देते हैं।¹⁴⁵ पुनरावृत्ति वाणी से और मन से हो सकती है। मन से पुनरावृत्ति अत्यधिक प्रभावोत्पादक है।¹⁴⁶ भजन भी नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के विकास में सहायक होते हैं। वे आध्यात्मिक जीवन में प्रेरक के रूप में काम करते हैं; वे गुणात्मक जीवन की आवश्यकता को बताते हैं, देव, शास्त्र व गुरु के महत्त्व को प्रकट करते हैं; परमात्मानुभव के प्रभाव को बताते हैं। विभिन्न प्रकार के भजन बनारसीदास, भागचन्द्र, द्यानतराय, भूधरदास आदि में पाये जाते हैं। अभीक्षणज्ञानोपयोग में सम्मिलित है- अनवरत आध्यात्मिक

142. नियमसार, 134, 137

143. नियमसार, 134, 135, 137

144. द्रव्यसंग्रह, 49

145. Yaśastilaka and Indian Culture, P.272

146. Yaśastilaka and Indian Culture, P.272

ज्ञान की साधना। यद्यपि यह मुख्य रूप से बौद्धिक होती है फिर भी यह परमात्मा (अरिहंत और सिद्ध) के प्रति हमारी भक्ति जगाने में समर्थ है।

भक्ति का महत्त्व

कुन्दकुन्द के अनुसार वह जो जिनचरणों में भक्तिपूर्वक झुकता है वह संसार की जड़ को नष्ट करता है।¹⁴⁷ पूज्यपाद घोषणा करते हैं कि व्यक्ति अर्हत् और सिद्ध के प्रति भक्ति से अपने आपको परमात्म अवस्था में रूपान्तरित कर सकता है।¹⁴⁸ वादिराज मुनि निरूपण करते हैं कि अगाध बौद्धिकता और निष्कलंक नैतिकता होते हुए भी मोक्षरूपी महल का दरवाजा जिस पर मोह का ताला है उसको भक्तिरूपी चाबी के बिना साधक खोलने में असमर्थ होता है।¹⁴⁹ यद्यपि परमात्मा ने प्रशंसा और निंदा के द्वैत को पार कर लिया है फिर भी उसकी प्रशंसा के गीत भक्त के पापों को नष्ट कर देते हैं।¹⁵⁰ परमात्मा का गुणरूपी समुद्र शब्दों के जहाज द्वारा पार नहीं किया जा सकता है फिर भी निश्चित है कि क्षणभर की भक्ति भी आत्मा को शुद्ध कर सकती है।¹⁵¹ समन्तभद्र का कहना है कि लोहा पारस पत्थर के स्पर्श से सोना बन जाता है उसी प्रकार भक्त एक प्रभावशाली व्यक्तित्व में बदल जाता है।¹⁵²

147. भावपाहुड, 153

148. समाधिगतक, 97

149. एकीभाव स्तोत्र, 13

150. स्वयंभू स्तोत्र, 57

एकीभाव स्तोत्र, 2

भक्तामर स्तोत्र, 7

151. जिनशतक, 59

स्वयंभू स्तोत्र, 86, 87

152. जिनशतक, 60

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के रूप में सोलह प्रकार की भावनाएँ

रहस्यवादी के द्वारा अलौकिक जगत की नागरिकता प्राप्त की जा सके- इसके लिए उसको ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का त्रिरंगी झण्डा जो सम्यग्दर्शन रूपी डण्डे के सहारे है, उसके प्रति पूर्ण निष्ठा रखनी चाहिए। तीन रंगों में से प्रथम, स्वाध्याय के द्वारा प्राप्त आध्यात्मिक ज्ञान को इंगित करता है, द्वितीय, चारित्र जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के व्रतों और तपों को पालना सम्मिलित है, तृतीय, धार्मिक विनम्रता जो अरिहंत और सिद्ध की भक्ति से उत्पन्न होती है और सम्यग्दर्शन (आत्मजाग्रति) रूपी डण्डा सहारे के रूप में होता है। सोलह प्रकार की भावनाएँ¹⁵³ जो ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के रूप में होती हैं वह बुद्धि, संकल्प और हृदय को एक साथ सन्तुष्ट करती हैं उनसे आत्मा में पुण्य की प्राप्ति इस हद तक होती है कि साधक तीर्थंकर बन सकता है उसी जीवन में या आगामी जीवन में।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग¹⁵⁴ ज्ञानयोग को बताता है। शीलव्रतेष्वनतीचार,¹⁵⁵ संवेग,¹⁵⁶ शक्तितस्तप¹⁵⁷ और आवश्यकपरिहार¹⁵⁸ कर्मयोग के व्यक्तिगत पक्ष के अन्तर्गत सम्मिलित हैं। शक्तितस्त्याग,¹⁵⁹ प्रवचन-

153. तत्त्वार्थसूत्र, 6/24

154. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग का अर्थ है अनवरत रूप से अपने आपको आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में लगाना।

155. व्रतों का पालन और उनके पालन के लिए कषायों का त्याग शीलव्रतेष्वनतीचार है।

156. सांसारिक दुःखों से भयभीत होना संवेग है।

157. अपनी शक्ति को छुपाये बिना शारीरिक तप करना शक्तितस्तप है।

158. छह आवश्यकों को करना आवश्यकपरिहार है।

159. आहार, सुरक्षा और ज्ञान में उदार होना शक्तितस्त्याग है।

वात्सल्य,¹⁶⁰ मार्गप्रभावना¹⁶¹ कर्मयोग के सामाजिक पक्ष में सम्मिलित हैं। विनयसम्पन्नता,¹⁶² साधु-समाधि,¹⁶³ वैयावृत्य,¹⁶⁴ अर्हत्भक्ति,¹⁶⁵ आचार्यभक्ति,¹⁶⁶ बहुश्रुतभक्ति¹⁶⁷ और प्रवचनभक्ति¹⁶⁸ भक्तियोग में सम्मिलित मानी जानी चाहिए। दर्शनविशुद्धि¹⁶⁹ जो सबके शीर्ष पर है वह ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग में व्याप्त प्रवृत्ति है।

आत्मजाग्रति (सम्यग्दर्शन) के बिना बुद्धि, संकल्प और हृदय की क्रियाएँ ऊँचाई पर आरोहण के लिए निष्फल होंगी। उपर्युक्त वर्गीकरण विभिन्न भावनाओं में बौद्धिक, भावात्मक और संकल्पात्मक तत्त्वों को दर्शाता है, जैसे मानसिक जीवन के तीनों पहलू एक सामंजस्य की स्थिति में गुंथे हुए हैं उसी प्रकार इन भावनाओं में प्रत्येक एक दूसरे में अन्तर्व्याप्त है, उनमें से कोई भी ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का स्वतंत्र रूप से काम दे सकता है। संभवतः इसके कारण आचार्य पूज्यपाद ने स्पष्ट घोषणा की कि ये भावनाएँ अलग-अलग और एकसाथ तीर्थंकरत्व का कारण हो सकती हैं।¹⁷⁰ ये भावनाएँ गृहस्थ और

160. आध्यात्मिक बंधुओं की तरफ प्रेमपूर्ण दृष्टिकोण रखना जैसे गाय बछड़े के प्रति रखती है वह प्रवचनवात्सल्य है।

161. समाज को ज्ञान, तप, दान, भक्ति और पूजा से प्रभावित करना मार्गप्रभावना है।

162. गुरु और आध्यात्मिक मार्ग के प्रति समादर भाव रखना विनयसम्पन्नता है।

163. मुनि के मार्ग से बाधाओं को हटाना साधु-समाधि है।

164. गुणीजनों की सेवा-शुश्रूषा वैयावृत्य है।

165-168. अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और प्रवचन में शुद्ध भक्ति रखना क्रमशः अर्हन्तभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति कहलाती है।

169. आत्मजाग्रति (सम्यग्दर्शन) दर्शनविशुद्धि है।

170. सर्वार्थसिद्धि, 6/24

(98) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

मुनि दोनों के लिए उपयोगी हैं। हम सरसरी तौर पर कह सकते हैं कि ज्ञानयोग की पूर्णता केवलज्ञान है, कर्मयोग की पूर्णता आत्मा में स्थिरता है और भक्तियोग की पूर्णता आनन्दानुभव की द्योतक है।

उच्चारोहण से पूर्व की प्रक्रिया

शुद्धीकरण की प्रक्रिया का वर्णन करने के पश्चात् अब हम विकास के अगले गुणस्थान का वर्णन करेंगे। कषाय के अति मन्द हो जाने के कारण आत्मा में प्रमाद उत्पन्न नहीं होता है और आत्मा सातवें गुणस्थान में पहुँच जाता है जो अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहा जाता है।¹⁷¹ यह गुणस्थान दो प्रकार का होता है अर्थात् स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। आत्मा जिसने पूर्णतया प्रमाद नष्ट कर दिया है और जो बौद्धिक ज्ञान और धर्मध्यान में लीन है किन्तु उच्च गुणस्थानों की ओर उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी के माध्यम से नहीं मुड़ता तब तक वह स्वस्थान अप्रमत्त या निरतिशय अप्रमत्त कहलाता है।¹⁷² जब वह उच्च गुणस्थानों की ओर मुड़ता है तो वह सातिशय अप्रमत्त कहलाता है। वह छठे और सातवें गुणस्थान में हजारों बार आता-जाता है और जब वह स्थिरता प्राप्त कर लेता है तो प्रयत्नपूर्वक अपने आपको चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करने के लिए तैयार करता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनों प्रकार की श्रेणियों का उपयोग करने के लिए समर्थ होता है जब कि उपशम सम्यग्दृष्टि केवल उपशम श्रेणी के माध्यम से ही आगे चढ़ता है।

171. गोम्मटसार जीवकाण्ड, चन्द्रिका टीका 45

172. गोम्मटसार जीवकाण्ड, चन्द्रिका टीका 46

(4) ज्योतिपूर्ण अवस्था या (क) सातिशय अप्रमत्त (ख) अपूर्वकरण (ग) अनिवृत्तिकरण (घ) सूक्ष्म साम्पराय (ङ) उपशान्त कषाय (च) क्षीणकषाय गुणस्थान

सातवें गुणस्थान का दूसरा भाग और शेष गुणस्थान बारहवें तक ध्यान की या ज्योतिपूर्ण और हर्षोल्लास पूर्ण अवस्था है। श्रेणियाँ गहरे ध्यान के माध्यम से चढ़ी जाती हैं। रहस्यवादी ध्यान के द्वारा उच्च मार्ग पर बढ़ता है और अब उसने आध्यात्मिक मनोयोग की तथा आत्मा में अपने को निमज्जन करने की शक्ति प्राप्त कर ली है। वह गहन रूप से अन्तर्मुखी हो जाता है। सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानवाला रहस्यवादी शुद्ध आत्मा की अवस्थाओं का अनुभव करता है और वह एक अन्तर्मुहूर्त के बाद आठवें गुणस्थान अर्थात् अपूर्वकरण गुणस्थान में आ जाता है और ऐसे अनुभव प्राप्त करता है जो कभी पूर्व में प्राप्त नहीं किये गये; जो आत्मा के इतिहास में अपूर्व हैं।¹⁷³ वह एक अन्तर्मुहूर्त तक इस गुणस्थान में ठहरता है¹⁷⁴ और यहाँ वह चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम करता है या क्षय करता है¹⁷⁵ और नवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में पहुँच जाता है जो गहन पवित्रता की अवस्था है। दसवाँ गुणस्थान जो सूक्ष्मसाम्पराय कहलाता है वहाँ केवल सूक्ष्म लोभ बचता है।¹⁷⁶ जिस आत्मा ने उपशम श्रेणी का चुनाव किया है वह लोभ का भी उपशम ग्यारहवें गुणस्थान में कर देता है। वह उपशान्तकषाय गुणस्थान कहा जाता है। यह गुणस्थान प्रथम प्रकार के शुक्ल ध्यान से प्राप्त किया जाता

173. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 49, 50, 51

174. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 53

175. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 54

176. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 59, 60

(100) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

है।¹⁷⁷ पूज्यपाद का कथन है कि ध्यान से रहस्यवादी में हर्षोल्लास उत्पन्न होता है और वह आत्मा में स्थापित हो जाता है और उसने सभी सांसारिक संबंधों से अपने आपको हटा लिया है। इस प्रकार की हर्षोल्लास पूर्वक चेतना कर्मरूपी ईंधन को जलाने के लिए समर्थ है। उपर्युक्त सभी गुणस्थान ज्योतिपूर्ण श्रेणी को दर्शाते हैं। अंतिम गुणस्थान अर्थात् दसवाँ गुणस्थान 'प्रथम रहस्यवादी जीवन' की समाप्ति का द्योतक है। यदि क्षपक श्रेणी से चढ़ा जाता है तो आत्मा दसवें से ग्यारहवें गुणस्थान की बजाय बारहवें गुणस्थान में जो क्षीणकषाय गुणस्थान कहलाता है उसमें चढ़ जाता है। यहाँ चारित्रमोहनीय कर्म का दमन नहीं होता है बल्कि नाश होता है।¹⁷⁸ आत्मा एक अन्तर्मुहूर्त तक इस गुणस्थान में रहता है और द्वितीय शुक्लध्यान की सहायता से आत्मा शेष¹⁷⁹ घातियां कर्मों को नष्ट करता है और रहस्यवादी लोकातीत जीवन का अनुभव करता है।¹⁸⁰

(5) ज्योतिपूर्ण अवस्था के पश्चात् अंधकार काल

रहस्यवादी अंधकार में लौट सकता है। 'प्रथम रहस्यवादी जीवन' या ज्योतिपूर्ण अवस्था से 'द्वितीय रहस्यवादी जीवन' या लोकातीत जीवन भिन्न होता है। आत्मा उच्च शिखर से नीचे की ओर गिर जाता है।¹⁸¹ जब उपशम सम्यग्दृष्टि जो ग्यारहवें गुणस्थान में ज्योतिपूर्ण अवस्था प्राप्त करता है वह मिथ्यात्व गुणस्थान में लौट जाता

177. ज्ञानार्णव, 52/20

178. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 62

179. ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय

180. लब्धिसार, चन्द्रिका टीका सहित, 600, 609

181. Mysticism, P.381

है।¹⁸² इसका कारण यह है कि एक अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् दमित कषाय शक्ति प्राप्त कर लेती है और रहस्यवादी को दुःखद परिणाम भोगने होते हैं। आत्मा दुःखपूर्ण अवस्था में पहुँच जाता है और वह अंधकार-काल कहा जाता है।¹⁸³ क्षायिक सम्यग्दृष्टि के द्वारा अनुभूत अंधकार काल इतना गंभीर नहीं होता जितना उपशम सम्यग्दृष्टि के द्वारा अनुभव किया जाता है क्योंकि परवर्ती पहले गुणस्थान में गिर जाता है और पूर्ववर्ती चौथे गुणस्थान से नीचे नहीं जाता है।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि सभी रहस्यवादी इस अंधकार-काल का अनुभव नहीं करते हैं। जो क्षपक श्रेणी चढ़ते हैं वे अंधकार काल से बच जाते हैं और तुरन्त लोकातीत जीवन को अनुभव करने में समर्थ हो जाते हैं, किन्तु जो उपशम श्रेणी चढ़ते हैं वे इस जीवन से वंचित हो जाते हैं। यद्यपि वे रहस्यवादी भी आवश्यकरूप से उतनी ही ऊँचाई पर पहुँच जायेंगे किन्तु उन्हें इस जीवन में या आगामी जीवन में क्षपक श्रेणी चढ़ना होगा। वास्तव में उस आत्मा ने जिसने एकबार आध्यात्मिक रूपान्तरण प्राप्त कर लिया है वह अनिवार्यरूप से पवित्र जीवन का अधिकारी हो गया है। प्रश्न केवल समय का है, निश्चितता का नहीं।

संक्षेप में कुछ आत्माएँ तीन प्रकार का अंधकार अनुभव करती हैं। प्रथम-जाग्रति से पूर्व, द्वितीय- जाग्रति के पश्चात्, तृतीय उपशम श्रेणी चढ़ने के कारण। प्रथम में, आत्मा को अपने अंधकार का भान नहीं होता है। द्वितीय में, आध्यात्मिक जागरण से गिरना सचेतन रूप से नहीं पहचाना जाता है। तृतीय में, उच्च अवस्था प्राप्त करने के पश्चात्

182. लब्धिसार, 344, 345

183. Mysticism, P.382

आत्मा नीचे गिर जाता है, अतः अंधकार का आक्रमण अत्यन्त दुःखदायी होता है।

(6) लोकातीत जीवन या (क) सयोगकेवली गुणस्थान (ख) अयोगकेवली गुणस्थान

सुप्त आत्मा जाग्रत होने के पश्चात् ध्यान की सीढ़ियों से चढ़ता हुआ उदात्त लक्ष्य की ओर पहुँचता है। प्रसुप्त आत्मा जो बाहरी वस्तुओं के त्याग की ओर प्रवृत्त है और जो जाग्रत होने पर अंतरंग अशुभ इच्छाओं को अस्वीकार करने तथा शुभ भावों को स्वीकार करने में व्यस्त है, लोकातीत अवस्था में रूपान्तरण के कारण न तो किसी वस्तु को त्यागता है न ग्रहण करता है किन्तु शाश्वत शान्ति में ठहर जाता है।¹⁸⁴ आत्मा (सुप्त) जो मिथ्यात्व और असंयम के द्वारा प्रभावित था जाग्रत होने पर उनके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता है।

वह वीतराग वाणी और कायिक क्रियाओं से सम्पन्न हो जाता है। ये आत्मा को रहस्यवादी अनुभव से वंचित नहीं कर सकती हैं। क्रिया लोकातीत अनुभव से असंगत नहीं होती है। यह जीवनमुक्त अवस्था कहलाती है और लोक में दिव्य जीवन का उदाहरण है। शुभ भाव जो अस्थायी शरण हैं वे अब पराजित हो गये हैं और शुद्ध भाव जो स्थायी निवास हैं, उत्पन्न हो गये हैं। अन्तरात्मा परमात्मा में रूपान्तरित हो गई है। अन्तःशक्ति वास्तविकता में बदल गई है। श्रद्धा और जीवन में जो भेद था वह समाप्त हो गया है। यह लोकातीत जीवन है और अतिमानसिक अवस्था है। यह आत्मा की विजय है, रहस्यवाद का फूल है, पूर्णता है जिसकी प्राप्ति के लिए रहस्यवादी ने आध्यात्मिक तीर्थयात्रा के प्रारंभ से ही अपने आपको लगाया है। यह सयोगकेवली

184. समाधिशतक, 47

गुणस्थान कहलाता है क्योंकि यहाँ केवलज्ञान के साथ योग (क्रिया) भी रहता है।¹⁸⁵ गोम्मटसार का कथन है कि इस गुणस्थान में आत्मा परमात्मा कहलाता है।¹⁸⁶

अगला गुणस्थान अयोगकेवली गुणस्थान कहलाता है क्योंकि वहाँ आत्मा ने योग (क्रियाओं) को नष्ट कर दिया है किन्तु केवलज्ञान सुरक्षित रहा है। तत्पश्चात् वह विदेहमुक्ति प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत पूर्व दोनों गुणस्थानों में वह सदेहमुक्त कहलाता है। मुक्ति की इन दोनों अवस्थाओं में आध्यात्मिक अनुभव में कोई भेद नहीं होता। आत्मा सयोगकेवली गुणस्थान में चार घातिया कर्म उदाहरणार्थ - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय को नष्ट करता है। योग के कारण कर्मों का आगमन आत्मा में होता है किन्तु कषाय के अभाव के कारण उसको विकृत नहीं कर सकता। आत्मा सयोगकेवली और अयोगकेवली गुणस्थान में अरिहंत कहा जाता है।¹⁸⁷

अरिहंतों के प्रकारों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है- (1) तीर्थंकर (2) अतीर्थंकर या सामान्यकेवली। इन दोनों में भेद यह है कि पूर्ववर्ती संसारी आत्माओं को उपदेश देने में समर्थ है और उनके उपदेश गणधरों द्वारा आगम रूप में गूँथे जाते हैं। जबकि परवर्ती धार्मिक सिद्धान्तों को स्थापित करनेवाले नहीं होते हैं किन्तु रहस्यात्मक अनुभव की उदात्तता को ही जीते हैं। इस तरह अरिहंतों के ये दो रूप हैं- ¹⁸⁸(1) क्रियाशील अरिहंत (क्रियाशील रहस्यवादी)

185. षट्खण्डागम, भाग-1/191

186. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 63, 64

187. भावनाविवेक, 234

188. Mysticism in Mahārāṣṭra, Preface, P.28

(2) अक्रियाशील अरिहंत (अक्रियाशील रहस्यवादी)। इस प्रकार जहाँ कहीं भी हमने अरिहंत शब्द का प्रयोग किया है और जहाँ कहीं भी करेंगे वहाँ मुख्यरूप से हम उसका अर्थ तीर्थंकर ही मानेंगे और गौणरूप से सामान्य केवलियों को जानेंगे।¹⁸⁹ तीर्थंकर बनने में सोलह प्रकार की भावनाओं के प्रति समर्पण होता है।¹⁹⁰ सिद्ध अवस्था तीर्थंकर हुए बिना भी प्राप्त की जा सकती है।

परमात्मा की धारणा

जो दिव्यता का अनुभव की हुई आत्माएँ हैं, उन्हें हम परमात्मा कह सकते हैं। सिद्ध भी परमात्मा कहे गये हैं किन्तु न तो अर्हत् और न सिद्ध पर संसार की रचना, पालन और नाश का उत्तरदायित्व है। साधक को उनसे आशीर्वाद और शाप प्राप्त नहीं होता है। “साधक उनकी पूजा करते हैं, प्रार्थना करते हैं और उन पर ध्यान लगाते हैं।”¹⁹¹ किन्तु यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि अरिहंतों या सिद्धों की भक्ति से आत्मा में उच्च प्रकार का पुण्य संचित होता है जिससे कई आध्यात्मिक और भौतिक लाभ प्राप्त होते हैं।

वह जो उनका भक्त होता है उसको समृद्धि प्राप्त होती है, वह जो उनकी निन्दा करता है वह नरक में गिरता है। इन दोनों अवस्थाओं में अरिहंत उदासीन होते हैं।¹⁹² साधक को अरिहंत और सिद्ध की इस उदासीनता से निराश नहीं होना चाहिए। जो भी उनके भक्त होते हैं वे अपने आप उन्नत हो जाते हैं। मुक्ति प्राप्त करने का उत्तरदायित्व अपने

189. मोक्षमार्गप्रकाशक, 6

190. सर्वार्थसिद्धि, 6/24

191. परमात्मप्रकाश, Introduction, P.36

192. स्वयंभूस्तोत्र, 69

स्वयं के प्रयत्नों पर निर्भर करता है और वह अपनी सारी शक्ति को दिव्य जीवन प्राप्त करने में समर्पित कर देता है। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार है जिसमें दिव्य अन्तःशक्ति की पूर्ण अनुभूति होती है।

अरिहंत की विशेषताएँ

आचारांग के अनुसार अरिहंत सभी दिशाओं में सत्य में स्थापित होते हैं। वे आत्मसमाहित होते हैं। उन्होंने अपने आपको क्रोध, मान, माया, लोभ, आसक्ति, घृणा, मोह, जन्म, मरण, नरक व पाशविक अस्तित्व के दुःख से मुक्त कर लिया है।

अरिहंत अति नैतिक जीवन जीते हैं, अ-नैतिक जीवन नहीं जीते हैं। अरिहंत ने पूर्ण अहिंसा प्राप्त कर ली है। वे गुण-दोषों से, पुण्य-पाप से और शुभ-अशुभ से परे होते हैं, फिर भी वे अत्यधिक रूप से गुणवान कहे जा सकते हैं, यद्यपि गुणवान जीवन उनको जन्म-मरण के बंधन में नहीं डालता है।¹⁹³

समन्तभद्र के अनुसार अरिहंत की मन-वचन और काय की क्रियाएँ अचिन्त्य होती हैं क्योंकि वे इच्छा और अज्ञान से उत्पन्न नहीं होती हैं।¹⁹⁴ जो कुछ भी उनसे प्रवाहित होता है वह मानव जीवन के दुःखों को मिटाने के लिए सशक्त होता है।

सैकड़ों आत्माएँ उनको देखने मात्र से आत्मजाग्रत हो जाती हैं, अपने मिथ्यात्व को त्याग देती हैं। उनकी उपस्थिति सर्वोच्च रूप से प्रकाशदायी होती है। हजार नेत्र होते हुए भी इन्द्र के लिए उनका शरीर

193. ज्ञानार्णव, 42/33

194. स्वयंभूस्तोत्र, 74

आश्चर्यजनक होता है।¹⁹⁵ वे मानव स्वभाव से परे हैं और देवताओं द्वारा पूज्य हैं, इसलिए वे परमात्मा कहे जाते हैं।¹⁹⁶ वे रहस्यवादी गुणों के मूर्त रूप होते हैं और समाज के आध्यात्मिक नेता होते हैं।¹⁹⁷

वे राग, द्वेष और मोह से परे होते हैं। परिणामस्वरूप पूर्णतया वीतरागी होते हैं।¹⁹⁸ द्रव्य के स्वरूप को अन्तर्दृष्टि से जानने के कारण उनके सभी संदेह समाप्त हो गये हैं।¹⁹⁹ आत्मानुभव उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियों, मन और कषायों पर विजय प्राप्त करना उनके लिए स्वाभाविक हो गया है अर्थात् आत्मानुभव के कारण वे मित्र और शत्रु, सुख और दुःख, प्रशंसा और निन्दा, जीवन और मरण, मिट्टी और सोने के द्वन्द्व से परे हो गये हैं।²⁰⁰

वे अपने में कुछ सामंजस्यपूर्ण अन्तर्विरोधों को स्वीकार करते हैं; वे आत्मस्थित होते हैं फिर भी सर्वव्यापक हैं, वे सभी वस्तुओं को जानते हैं फिर भी अनासक्त हैं, वे दीर्घायु होते हैं फिर भी बुढ़ापे से रहित होते हैं।²⁰¹

अरिहंत शुद्ध चेतना को अभिव्यक्त करते हैं, घातिया कर्मों का नाश करते हैं और अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करते हैं,²⁰² अनन्त शक्ति और अद्वितीय दीप्ति प्राप्त कर चुके हैं।²⁰³

195. स्वयंभूस्तोत्र, 89

196. स्वयंभूस्तोत्र, 75

197. स्वयंभूस्तोत्र, 35

198. प्रवचनसार, 1/14 अमृतचन्द्र की टीका सहित

199. प्रवचनसार, 1/14, 2/105

200. प्रवचनसार, 1/14, 3/41,42

201. विषापहारस्तोत्र, 1

202. प्रवचनसार, 1/41

203. प्रवचनसार, 1/15, 19

अरिहंतों के जीवन में केवलज्ञान उत्पन्न हो चुका है जिसके कारण वे बिना किसी सहायता के पूर्णरूप से, एकसाथ सभी द्रव्यों को जान लेते हैं। इसका विरोध सीमित इन्द्रिय ज्ञान से है जो वस्तुओं को अपूर्णरूप से, क्रम से और बुद्धि के सहयोग से जानता है।

यह कहना आत्मविरोधी नहीं होगा कि केवलज्ञानी सर्वव्यापक होता है और सारी वस्तुएँ उनके अन्दर होती हैं क्योंकि अरिहंत ज्ञान के मूर्त रूप हैं और सारे विषय ज्ञान के विषय हैं।²⁰⁴ केवलज्ञानी बाहरी वस्तुओं²⁰⁵ को बदलता नहीं है किन्तु उनको दृष्टाभाव से देखता है जैसे आँखें वस्तुओं को देखती हैं।²⁰⁶ योगीन्दु इसी तरह कहते हैं कि विश्व परमात्मा में स्थित है और परमात्मा विश्व में किन्तु वह विश्व नहीं है।²⁰⁷

केवलज्ञान स्वतंत्र है, पूर्ण है, पवित्र है, अन्तर्दृष्ट्यात्मक है और विश्व की अनन्त वस्तुओं तक फैला हुआ है, उसका आनन्द से तादात्म्य किया जा सकता है, वहाँ अशान्ति नहीं है क्योंकि वह अशान्ति ऐसे ज्ञान से उत्पन्न होती है जो पराधीन है, अपूर्ण है, अपवित्र है, परोक्ष है ²⁰⁸ और सीमित वस्तुओं तक फैली हुई है। दूसरे शब्दों में, अरिहंत की चेतना सर्वशक्तिमान और अन्तर्दृष्ट्यात्मक ही नहीं है किन्तु आनन्दपूर्ण भी है। अरिहंत अपूर्व आनन्द अनुभव करते हैं जो आत्मा के अंतरंग से उत्पन्न होता है जो अतीन्द्रिय है, अपूर्व है, अनन्त है और अविनाशी है।²⁰⁹

204. प्रवचनसार, 1/26

205. प्रवचनसार, 1/32

206. प्रवचनसार, 1/29

207. परमात्मप्रकाश, 1/41

208. प्रवचनसार, 1/59 अमृतचन्द्र की टीका सहित

209. प्रवचनसार, 1/13

एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि अरिहंतों ने जब सब घातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं और संदेहों से रहित हो गये हैं तो वे किस का ध्यान करते हैं?²¹⁰ इसका उत्तर यह कहकर दिया जा सकता है कि अरिहंत जो पूर्ण हो चुके हैं और अतीन्द्रिय हैं, आनन्द का ध्यान करते हैं। कुन्दकुन्द के अनुसार अरिहंत जिन्होंने राग, द्वेष नष्ट कर दिया है और अनासक्ति प्राप्त कर ली है, वे आत्मा में स्थित होते हैं, वे असीम आनन्द प्राप्त करते हैं।²¹¹ उनकी चेतना अन्तर्दृष्ट्यात्मक, आनन्दपूर्ण और सर्वशक्तिमान होती है। हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अरिहंत का रहस्यात्मक अनुभव अवर्णनीय और अनुपम होता है।²¹²

‘पावन’ श्रेणी के रूप में अरिहंत

अरिहंत में जो अवर्णनीय तत्त्व है वह इस बात का द्योतक है कि अरिहंत का सार-स्वरूप बौद्धिक धारणाओं में समाप्त नहीं किया जा सकता है। यह अर्हत् का प्रकाशमान²¹³ पहलू है जो तार्किक या नैतिक समझ से परे होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अर्हत् पूर्णतया ‘लोकभिन्न’²¹⁴ (Wholly other) है। यह इस बात को बताता है कि “देव का पहलू बहुत रहस्यात्मक है और उसे मानवीय माप से व्यक्त नहीं किया जा सकता।”²¹⁵ इसी कारण से बुद्धि निषेधात्मक अभिव्यक्तियों का सहारा लेती है। यद्यपि अभिव्यक्तियाँ निषेधात्मक होती हैं किन्तु जिस ओर वे संकेत करती हैं वे स्वीकारात्मक होती हैं, वे जीवन्त

210. प्रवचनसार, 2/105

211. प्रवचनसार, 2/103, 104

212. ज्ञानार्णव, 42/76, 77, 78

213. Idea of the Holy , P.5, 6, 7

214. Idea of the Holy , P.25

215. Idea of the Holy , Preface, P.18

अनुभव की पहुँच में होती है। इस प्रकार रहस्यात्मक जीवन की गरिमा बुद्धिगम्य नहीं होती है और शास्त्रों और इन्द्रियों की पहुँच से बाहर होती है किन्तु ध्यान के द्वारा अनुभव की जा सकती है।²¹⁶ यह कहना असंगत नहीं होगा कि अर्हत् की श्रेणी 'पावन' होती है अर्थात् व्याख्या और मूल्यों की श्रेणी के अन्तर्गत कही जाती है। रहस्यवादी की धार्मिक चेतना में अतार्किक और तार्किक तत्त्व अन्तर्व्याप्त होते हैं। अवर्णनीय तत्त्व अतार्किक होता है और केवलज्ञान का प्रकाश, अनन्त शक्ति, भय का नाश व संदेह की समाप्ति- ये सभी तार्किक तत्त्व हैं।

सिद्धावस्था या उत्कृष्ट लोकातीत जीवन

वह अवस्था जिसे हम विदेह मुक्ति कहते हैं, वह आत्मा की अंतिम परिपूर्णता है और सिद्धावस्था की प्राप्ति उत्कृष्ट लोकातीत जीवन है। आत्मा की यह अवस्था गुणस्थानों से परे है। आध्यात्मिक विकास की अंतिम अवस्था के पश्चात् आत्मा एक क्षण में लोक के अंत में चला जाता है क्योंकि उसके पश्चात् धर्म द्रव्य अलोक में नहीं है।²¹⁷ आत्मा का ऊर्ध्वगमन चार कारणों से होता है-²¹⁸ प्रथम, आत्मा में दासता से मुक्त होने के लिए पूर्व घोर प्रयत्न का प्रभाव विद्यमान होने के कारण, जिस प्रकार कुम्हार का चाक हाथ हटा लेने के पश्चात् भी घूमता रहता है। द्वितीय, कर्मों के भार से स्वतंत्र होने के कारण, जिस प्रकार पानी में तुमड़ी की ऊर्ध्वगति मिट्टी का भार समाप्त होने के कारण होती है। तृतीय, सभी कर्मों के नाश होने के फलस्वरूप, जैसे एरण्ड बीज का ढक्कन हटाने के कारण ऊर्ध्वगति होती है। चतुर्थ, उसकी अपने

216. परमात्मप्रकाश, 23

217. नियमसार, 175, 183

218. सर्वार्थसिद्धि, 10/6, 7

अंतरंग स्वभाव के कारण ऊर्ध्वगति होती है क्योंकि कर्मों की शक्ति की अनुपस्थिति है, जिस प्रकार लैम्प की लौ की दिशा हवा की अनुपस्थिति के कारण ऊर्ध्वगामी होती है। आत्मा का वास्तविक निवासस्थान लोक का शीर्ष है, कर्मों के भार के कारण आत्मा संसार में आ जाता है और जब वह अपने स्वभाव को प्राप्त कर लेता है तो वह अपने वास्तविक निवास पर चला जाता है।

सिद्ध की विशेषताएँ

सिद्ध कार्य-कारण के संबंध से परे होते हैं क्योंकि द्रव्य कर्म, भाव कर्म और परिणामस्वरूप चार गतियाँ समाप्त हो गयी हैं। कारणता की कोटि सांसारिक जीवों पर लागू होती है, सिद्धों पर नहीं। कुन्दकुन्द कहते हैं कि सिद्ध न तो उत्पाद है और न उत्पादक है अतः न कारण है और न कार्य।²¹⁹ षट्खण्डागम के अनुसार वह जिसने समस्त कर्मों को नष्ट कर दिया है, बाह्य वस्तुओं से स्वतंत्र है और उसने अनन्त अपूर्व एवं अमिश्रित आनन्द प्राप्त कर लिया है। वे किसी चीज में आसक्त नहीं हैं जिन्होंने स्थिरता प्राप्त कर ली है, जो सदगुणों के निधान हैं और जिन्होंने लोक के शीर्ष पर अपना निवास बना लिया है वे सिद्ध होते हैं।²²⁰ सिद्धत्व की प्राप्ति का निर्वाण से भेद नहीं है²²¹ जहाँ निषेधात्मक रूप से कहा जाता है कि वहाँ न दुःख, न सुख, न कोई कर्म, न शुभ-अशुभ ध्यान, न मृत्यु, न जन्म, न इन्द्रियाँ, न विपत्ति, न मोह, न आश्चर्य, न निद्रा, न इच्छा, न भूख है और जहाँ स्वीकारात्मक रूप से कहने पर वहाँ पूर्ण ज्ञान है, ध्यान है, आनन्द है, शक्ति है, अभौतिकता

219. पञ्चास्तिकाय, 36

220. षट्खण्डागम, भाग-1/200

221. नियमसार, 183

है और अस्तित्व है।²²² आचारांग का कथन है- “वहाँ से सब स्वर लौट आते हैं जहाँ चिन्तन को कोई स्थान नहीं है और न ही बुद्धि वहाँ प्रवेश कर सकती है।” “सिद्ध बिना शरीर के हैं, न उनके पुनर्जीवन हैं, न पुद्गल से कोई संबंध है, वे स्त्री नहीं हैं, पुरुष नहीं हैं, नपुंसक नहीं हैं, वे ज्ञाता-दृष्टा हैं किन्तु उनका कोई सादृश्य नहीं है।”²²³ आत्मा की यह अवस्था रहस्यात्मक यात्रा की समाप्ति है। यह अंतिम लक्ष्य है जिसके लिए आत्मा प्रारंभ से ही संघर्ष कर रहा था। दूसरे शब्दों में सिद्धों का इतिहास बन्धन से स्वतंत्रता की ओर गमन का इतिहास है। यह नैतिक और आध्यात्मिक प्रयत्नों में विजय का इतिहास है।

222. नियमसार, 178, 179, 180, 181

223. Ācārāṅga - Sūtra, 1-5-6-3-4, P.52



सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. अमितगति श्रावकाचार, अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
2. अनगार धर्माभूत, आशाधर, खुशालचन्द पानाचन्द गांधी, शोलापुर
3. आचारसार, वीरनन्दि, शान्तिसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला
4. इष्टोपदेश, पूज्यपाद, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
5. एकीभाव स्तोत्र, वादिराज, मूलचन्द किशनदास कापडिया, सूरत, 'पञ्चस्तोत्र-संग्रह' के अन्तर्गत
6. कल्याणमंदिर स्तोत्र, वादिराज, मूलचन्द किशनदास कापडिया, सूरत, 'पञ्चस्तोत्र-संग्रह' के अन्तर्गत
7. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
8. गोम्मतसार कर्मकाण्ड, नेमिचन्द्र, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
9. गोम्मतसार जीवकाण्ड, नेमिचन्द्र, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
10. चारित्रपाहुड, कुन्दकुन्द, पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, 'अष्टपाहुड' के अन्तर्गत
11. जिनशतक, समन्तभद्र, स्याद्वाद रत्नाकर कार्यालय, काशी
12. ज्ञानार्णव, शुभचन्द्र, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
13. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी, सर्वार्थसिद्धि के अन्तर्गत, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
14. तत्त्वानुशासन, नागकुमार मुनि, वीरसेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली
15. दशभक्त्यादि संग्रह, पूज्यपाद, अखिल विश्व जैन मिशन, साबरकांठा, गुजरात
16. द्रव्यसंग्रह, सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, जबलपुर
17. नियमसार, कुन्दकुन्द, पद्मप्रभमलधारीदेव की टीका सहित, ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई
18. पञ्चास्तिकाय, कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र और जयसेन की टीका सहित, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई

19. परमात्मप्रकाश, योगीन्दु, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
20. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, अमृतचन्द्र, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
21. प्रवचनसार, कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र और जयसेन की टीका सहित, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
22. बोधपाहुड, कुन्दकुन्द, पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ, 'अष्टपाहुड' के अन्तर्गत
23. भगवती आराधना, विजयोदय और मूलाधारदर्पण टीका सहित, सखाराम नेमचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर
24. भक्तामर स्तोत्र, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई
25. भावनाविवेक, चैनसुखदास, सद्बोध ग्रन्थमाला, जयपुर
26. भावपाहुड, कुन्दकुन्द, पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ, 'अष्टपाहुड' के अन्तर्गत
27. मूलाचार, वट्टकेर, अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
28. मोक्षपाहुड, कुन्दकुन्द, पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ, 'अष्टपाहुड' के अन्तर्गत
29. मोक्षमार्गप्रकाशक, पंडित टोडरमल, दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा
30. युक्त्यनुशासन, समन्तभद्र, वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली
31. योगशास्त्र, हेमचन्द्र, ऋषभचन्द्र तोहरी, दिल्ली
32. योगसार, योगीन्दु, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
33. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, समन्तभद्र, वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली
34. राजवार्तिक, अकलंक, भाग-1, 2, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
35. लब्धिसार, नेमिचन्द्र, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
36. लब्धिसार, टोडरमलजी की चन्द्रिका टीका सहित, गांधी-हीराभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता
37. लिंगपाहुड, कुन्दकुन्द, पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ, 'अष्टपाहुड' के अन्तर्गत
38. वृहत्कथाकोश, डॉ. ए. एन. उपाध्ये की भूमिका
39. षट्खण्डागम, भाग- 1, 2, 13, वीरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि की धवला टीका सहित, जैन साहित्य उद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती

40. समयसार, कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र और जयसेन की टीका सहित, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
41. समाधिशतक, पूज्यपाद, वीरसेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली
42. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
43. सामायिक पाठ, अमितगति, जिनभारती-संग्रह, श्रीवर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल, जबलपुर
44. सूत्रपाहुड, कुन्दकुन्द, पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ 'अष्टपाहुड' के अन्तर्गत
45. स्वयंभूस्तोत्र, समन्तभद्र, वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, देहली
46. Ācārāṅga-Sūtra, Sacred Books of the East, Vol. XXII
47. Ātmānuśāsana, Guṇabhadra, Sacred Books of the East, Vol. Viii
48. Constructive Survey of Upaniṣadic Philosophy by R. D. Ranade; Oriental book Agency, Poona-2
49. Dravya-Saṁgraha, Sacred Books of the Jains, Vol.I
50. Evolution of Religion, referred by R. D. Ranade, Constructive Súrvey of Upaniṣadic Philosophy
51. Idea of the Holy, Rudolf Otto, Oxford University Press, London
52. Mahāvīra and his Philosophy of life, Dr. A. N. Upadhye, The Indian Institute of Culture, Bangalore-4
53. Mysticism in Mahārāshtra, R.D.Ranade, University of Bombay, Bombay
54. Niyamsāra, Kundakunda, Sacred Books of the Jains, Vol.IX
55. Pathway to God-realization in Hindi Literature, H.D.Ranade, Adhyātma Vidyā Mandira, Sānglī
56. Uttarādhyayana, Sacred Books of the East, Vol. XLV
57. Yaśastilaka and Indian Culture, Handiqui, Jīvarāja Granthamālā, Sholapur
58. Yoga of the Saints, Dr. V. H. Date, Populer Book Depot, Bombay-7



